प्रथम अध्याय

समाज के अध्ययन की पद्धतियाँ और दलित समाज

भारत में धर्म के आधार पर, भाषा के आधार पर, संस्कृति के आधार पर, भौगोलिक आधार पर अलग-अलग लोग निवास करते हैं, लेकिन भारतीयता और हमारा संविधान एक में बाँधती है। मनुष्य जिस क्षेत्र में निवास करता है उसकी अपनी बोली, भाषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज होता है। भारत में भी निवास करने वाले लोगों की अपनी भाषा, बोली, रीत-रिवाज, परंपराएँ हैं। मनुष्य किसी न किसी परिवार का अंग होता है। परिवार किसी न किसी समुदाय या समाज का अंग होता है। उस समाज में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन होते हैं तो उससे मनुष्य भी प्रभावित होता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मनुष्य एक समुदाय का अंग होता है। मनुष्य अपनी भावनाओं को अपने में सीमित नहीं रखता, भाषा एवं भावनाओं के माध्यम से एक से दूसरे में संपर्क करता है। ग्राम, जनपद, राज्य, देश सबसे जुड़कर अपने व्यक्तित्व और भावना को बताता है। इसी आधार पर एक समाज का निर्माण होता है जिसमें मनुष्य निवास करता है, जबकि वैज्ञानिक ढंग से समाज शब्द का प्रयोग समाजशास्त्र के संबंध में किया जाता है-जैसे मुस्लिम समाज, हिन्दू समाज, आर्य समाज, ईसाई समाज, पारसी समाज, बौद्ध समाज, जैन समाज, दलित समाज। समाजशास्त्र में समाज का प्रयोग सामाजिक संबंधों के अर्थों में किया जाता है। समाज मानव के जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते है। मनुष्य समाज में रहकर अपनी मूलभूत आवश्यकताएँ रोटी, कपड़ा, मकान और वासना आदि आवश्यकताओं को पूरा करने के साथ-साथ उस में समूह के कल्याण की भावना जागृत करता है। सामान्यता समाज से अभिप्राय उस परिवेश से लिया जाता है जहाँ मनुष्य रहकर अपना जीवन व्यतीत करता है। वैसे तो समाज का निर्माण प्रत्येक प्राणी करते हैं लेकिन मनुष्य सब प्राणियों में बुद्धि के आधार पर श्रेष्ठ है। इसलिए श्रेष्ठता और बुद्धि की प्रधानता के कारण मनुष्य समाज के अन्य प्राणियों की अपेक्षा अपने जीवन में अधिक व्यवस्थित होता है समाज शब्द में अत्यंत व्यापक व सामाजिक संबंधों का एक बड़ा जाल है।

1.1 भारतीय समाज की अवधारणा:

व्यक्ति और समाज के बिना एक दूसरे की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। व्यक्ति जन्म से मृत्यु तक अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज पर ही निर्भर रहता है। बिना व्यक्ति के समाज भी नहीं हो सकता है। अतः समाज के अभाव में व्यक्ति के सार्थक और उद्देश्यपूर्ण जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती है। यदि व्यक्ति को जीवन के प्रारंभ से अंत तक किसी भी रूप में समाज का सहयोग प्राप्त न हो तो उसके लिए जीवित रहना ही असंभव होगा। ऐसी स्थिति में यह कहना अनुचित न होगा कि व्यक्ति का संपूर्ण विकास ही नहीं अपितु उसका अस्तित्व ही अंततः समाज पर निर्भर है। "व्यक्ति स्वयं नितांत महत्त्वहीन तथा सामाजिक हित का साधन मात्र है जिसका समाज अपनी इच्छा अनुसार उपयोग कर सकता है समाज पर आश्रित होते हुए भी व्यक्ति अपने कर्मों तथा विचारों द्वारा उसे प्रभावित तथा परिवर्तित कर सकता है समय-समय पर महान विचार को एवं दार्शनिकों के विचारों के फलस्वरूप समाज में जो क्रांतिकारी परिवर्तन और सुधार हुए वह सभी इसी तथ्य का प्रमाण को प्रमाणित करते हैं।"[1] व्यक्ति और समाज एक दूसरे के पूरक जान पड़ते हैं। बिना व्यक्तियों के किसी भी समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है और बिना समाज के व्यक्ति के अंदर न तो नैतिकत, स्वभाव और न ही उसके आचार-विचार का विकास हो सकता है। इसी प्रकार से व्यक्ति प्राचीन काल से ही अपने आप को परिष्कृत एवं परिमार्जित करते हुए वर्तमान समय तक आया है। भारतीय समाज के विकास के स्वरूप को उसी प्रक्रिया में देखना होगा।

भारतीय समाज विभिन्न संस्कृतियों, सभ्यताओं और प्रजातियों के निर्माण की एक प्रक्रिया है। प्राचीन एवं आधुनिक भारतीय समाज में अनेक धर्मों, जातियों एवं सम्प्रदायों के लोग निवास करते थे। जिनकी प्रथाएँ, मूल्य, विश्वास, रहन-सहन के तरीके, भोजन एवं वस्त्र आदि में काफी भिन्नता देखने को मिलते है। ग्रामीण और नगरीय जीवन में भी स्पष्ट अंतर दिखाई पड़ता है। जहाँ एक ओर शिकार, फल, कंदमूल आदि के द्वारा अपना जीवन यापन करने वाले आदिम जनजातियाँ पाई जाती हैं, तो दूसरी ओर नगरी समुदाय में ऐसे लोग हैं जो नवीनतम वैज्ञानिक यंत्रों के माध्यम से अपनी आजीविका

चलाते हैं। भारतीय समाज में हजारों वर्षों से प्रजातियाँ और सांस्कृतिक सम्मिश्रण भी होता रहा है। भारतीय समाज में विभिन्न प्रजातियाँ मिश्रित रूप में पाई जाती हैं। यहाँ द्रविड़ों की संस्कृति, आर्यों की संस्कृति, मध्य एशिया से आये हुए आक्रमणकारी समूहों की संस्कृति, मुस्लिम संस्कृति और पाश्चात्य संस्कृति का आपस में काफी सम्मिश्रण हुआ है। इन संस्कृतियों का भारतीय समाज एवं संस्कृति पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। विविधता के बावजूद भारतीय समाज में मौलिक एकता भी दिखाई पड़ती है जिसका अनुभव न केवल भारतीय बल्कि विदेशी भी करते हैं। ऐसे विविधता पूर्ण एवं जटिल भारतीय समाज को समझना और वैज्ञानिक तरीके से उसका अध्ययन एवं उस पर शोध करना कठिन है। इस कार्य के लिए भारतीय समाज के विकास का ऐतिहासिक कार्यक्रम का पता लगाना और विभिन्न कालों में लोगों के मूल्यों, लोक रीति-रिवाजों, व्यवहारों उनके तरीकों एवं जनजीवन विधियों को समझना होगा।

भारतीय समाज विश्व के प्राचीनतम समाजों में से एक है। यहाँ के विचार को चिंतकों ने अपनी साधना और अध्ययन चिंतन तथा अनुभव के आधार पर मानव संस्कृति का निर्माण किया एवं जीवन मूल्यों का विकास किया। भारतीय समाज की विकास प्रक्रिया को समझने के लिए भारतीय धर्म ग्रंथ, ऐतिहासिक ग्रंथ, पुरातत्व संबंधी साक्ष्यों, विदेशियों के विवरण एवं मध्यकालीन फारसी तथा अरबी साहित्य प्रमुख हैं। प्राचीन धर्म ग्रंथों की सहायता से भारतीय समाज के विकास का अध्ययन किया जाता है। समाज आज वैसा नहीं है जैसा प्राचीन काल में था, समय के साथ-साथ इसमें भी परिवर्तन आये हैं। इनकी कला, साहित्य, संस्कृति, प्रमुख संस्थाएँ, परंपराएँ, परिवार एवं आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था में भी परिवर्तन आये है। भारतीय समाज का भी समय के विकास हुआ है और इन विकास की जानकारी धर्म ग्रंथों ऐतिहासिक एवं सामाजिक ग्रंथों विदेशियों के विवरण पुरातात्विक साक्ष्यों से प्राप्त होती है।

भारतीय समाज पहले किसी भी वर्ग या वर्ण व्यवस्था में विभाजित नहीं था। "भारत के आदमी मनुष्यों के बीच कोई वर्ग-विभाजन नहीं था और न ही कोई राजतंत्रीय संस्थाएं ही थी। वे कुलों

और कबीलों में संगठित थे। कबीले का एकक कुल या गोत्र था जिसका एक सामान्य पूर्वज होता था। हर कुल की एक लोकतांत्रिक समिति होती थी जो अपने मुखिया को सुनती थी एक कबीले में कई कुल होते थे।"[2] भारतीय समाज में वर्गों या जातियों में विभाजित होने के प्रमाण नहीं मिलते हैं। इस सभ्यता के विनाश या विलुप्त होने के बाद वैदिक सभ्यता का प्रारंभ होता है। भारतीय समाज चार वर्णों में विभाजित है जिसका उल्लेख सर्वप्रथम-

"ब्राह्मणोअस्य मुखमसीद बाहु राजन्य: कृत:

उरू तदस्य यद् वैश्य: पदोभ्याम शूद्रो अजायत।

अर्थात ब्राह्मण की उत्पत्ति प्रजापति ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रिय की बाहु से, वैश्य की जंघा से और शूद्रों के उत्पत्ति पैरों से हुई है।"[3] भारतीय इतिहास में देखते हैं कि सर्वप्रथम ऋग्वेद के पुरुषसूक्त से ही वर्ण व्यवस्था के चिह्न दिखाई पड़ते हैं जो कि उत्तर वैदिक काल में भारतीय समाज में पूर्ण रूप में प्रस्तुत होते हैं। वर्ण एवं जातियाँ एक नहीं है प्रत्येक वर्ण में अनेक जातियाँ और उपजातियाँ होती हैं। वर्ण हिंदू समाज के चार बड़े भाग हैं, जबकि जातियाँ विशिष्ट अंत: विवाहित समूह भारत में समान रूप से पाए जाते हैं। इतिहास पर नजर डाले तो कुछ निम्न जातियों के शासन भी रहे है लेकिन यह कुछ ही क्षेत्रों तक सीमित रहा है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि समाज में जहाँ संपन्न एवं आर्थिक रूप से मजबूत है तो वह भी शासक वर्ग का कार्य करते थे। लेकिन शूद्र वर्ण आर्थिक और सामाजिक रुप से निचले स्तर पर होने के बावजूद उसमें संपन्नता एवं शासक वर्ग बहुत ही कम मिलते है। "जाति शब्द 'जात' से बना है, जिसका अर्थ होता है-जन्म। और वर्ण का अर्थ रंग होता है। इस प्रकार जाति-व्यवस्था का आधार जन्म और शरीर का रंग प्रतीत होता है। भारतीय साहित्य में 'वर्ण' और 'जाति' दोनों ही शब्दों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। किंतु प्राचीन साहित्य में 'वर्ण' शब्द का उल्लेख पहले और 'जाति' शब्द का बहुत बाद में आया है।"[4] सामाजिक व्यवस्था का ही एक अंग आश्रम व्यवस्था भी थी। भारतीय विचारक ने मनुष्य की आयु लगभग सौ वर्ष मानी, उनको चार भागों में

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास में विभक्त किया। इन चारों आश्रमों में क्रम से रहता हुआ व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों की प्राप्ति करता है।

वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था एवं आश्रम व्यवस्था के साथ-साथ जाति प्रथा भी देखने को मिलती है। जाति प्रथा का विकास भारतीय समाज में हिंदू धर्म के कारण माना जाता है। जाति भारतीय समाज की महत्त्वपूर्ण व्यवस्था है। भारतीय वर्ण व्यवस्था ने न सिर्फ यहाँ के समाजों को विभिन्न जातियों जनजातियों में बाँटा है बल्कि बाहर से आये अन्य धर्मों पर भी जाति व्यवस्था का प्रभाव देखने को मिलता है। "धर्म सामाजिक आचरण की धार्मिक, नैतिक अवधारणा थी। आम जनता के लिए कोई सामान धर्म निर्दिष्ट नहीं था। शूद्र का धर्म ब्राह्मण के धर्म से भिन्न था। जैसा कि धर्म शास्त्रों में कहा गया था, धर्म 'चार वर्णों और चार आश्रमों से निर्मित सामाजिक व्यवस्थाओं की संगठन इकाइयों के अलग-अलग कर्तव्यों और दायित्वों का योग' था। इन वर्णों, आश्रमों और कर्तव्यों की रक्षा करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य था, क्योंकि ये अति पवित्र थे।"[5] भारतीय समाज में जाति व्यवस्था के प्रादुर्भाव के बाद प्रत्येक जातियाँ एवं उपजातियाँ अपने ही समाज के लोगों के साथ रहन-सहन, खानपान, रीति-रिवाज, धार्मिक एवं सामाजिक कार्य किया करते थे। जाति व्यवस्था ने समाज में एक बहुत बड़ी खाई का काम किया था जिससे जन्म के आधार पर व्यक्ति के व्यवसाय एवं कर्तव्य निर्धारित थे। वह उन्हें क्षमता के आधार पर बदल नहीं सकता था जिससे व्यक्तियों का शोषण सामाजिक स्तर पर, राजनीतिक स्तर पर, धार्मिक स्थल पर किया जाता था। जाति व्यवस्था ने समाज में ईर्ष्या, द्वेष और संघर्ष का समुदाय बना दिया है जिससे व्यक्ति एवं समाज के विकास के अवरोध का मुख्य कारण जाति व्यवस्था का होना माना जाता है।

मध्यकाल में भारतीय समाज पर इस्लाम का प्रभाव देखने को मिलता है। 12वीं सदी तक उत्तरी भारत में अनेक वंशों का शासन रहा, लेकिन इसके बाद मुस्लिम शासकों का प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ता गया। 11वीं सदी में मोहम्मद गोरी ने दिल्ली पर आक्रमण किया और पृथ्वीराज चौहान को हराकर मुस्लिम शासक की नींव रखी। धीरे-धीरे राजाओं की शक्ति कम हुई और मुस्लिम शासकों का

प्रभाव बढ़ता गया। मुगल मुसलमानों का पृथक अस्तित्व रहा क्योंकि दोनों के धर्म, संस्कृति, रीति-रिवाज, खानपान एवं जीवन दर्शन में विभिन्नता है। हिंदू और मुसलमान संस्कृति के संपर्क के कारण कला, धर्म, संस्कृति, परिवार, विवाह, संगीत, साहित्य कई क्षेत्र में दोनों ने बहुत आदान- प्रदान किया। उनका मुख्य उद्देश्य शासन करना था लेकिन सत्ता के अधीन धर्म और संस्कृति का प्रभाव जनता पर पड़ता है जिससे सत्ता से प्रभावित जनता ने धर्म और संस्कृति को स्वीकार किया इसलिए भारतीय समाज में कई संस्कृतियों एक ही साथ दिखाई देती हैं। "यह आश्चर्यजनक सत्य पर हमारा ध्यान जाना चाहिए, कि इस्लामी राज्य की उन सदियों में, जब मुसलमान राजपूत, मुसलमान गुर्जर, मुसलमान जाट, मुसलमान जुलाहा, मुसलमान तेली, मुसलमान नाई जैसी धर्म परिवर्तित जातियों का तो जन्म हुआ, पर मुसलमान चमार ने जन्म नहीं लिया।"[6] मुस्लिम समाज में वर्ग भेद नहीं है लेकिन भारतीय समाज में भी मुस्लिम समाज आकर अपने आपको वर्गों में विभेद कर लेता है। भारतीय समाज का प्रभाव मुस्लिम समाज पर दिखाई देता है हिंदू समाज पर भी मध्यकालीन भारत में जाति, धर्म एवं व्यवसाय के आधार पर विभाजन था। वर्ण व्यवस्था के अनुसार यह समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के मध्य विभाजित था सबसे निम्न वर्ग शूद्र में शामिल थे। इस्लाम के प्रभाव के कारण भारतीय समाज से धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक सभी क्षेत्रों में प्रभावित हुआ और यह प्रभाव ब्रिटिश काल तक बना रहा। केवल हिंदुओं ने ही इस्लाम स्वीकार नहीं किया बल्कि मुसलमानों ने भी हिंदू संस्कृति के अनेक पंथों को स्वीकार किया। जिससे साथ-साथ रहते दोनों में एक दूसरे के लिए क्रूरता कम हुई। भक्ति, श्रद्धा, सहृदयता, दयालुता पैदा हुई। मुस्लिमों ने भी हिंदुओं के खानपान जाति प्रथा, अंधविश्वासों से भी प्रभावित हुए। इस प्रकार दोनों संस्कृतियों के संपर्क से नवीन संस्कृति हिंदू-मुस्लिम संस्कृति का जन्म हुआ। राजा, महाराजों के रियासत होती थी जिसमें सामंत और जमींदार होते थे सामंत और ज़मीदार भी दलित समाज का शोषण करते थे "सामंत वर्ग नाम मात्र के पारिश्रमिक या बिना पारिश्रमिक के ही न शूद्र वर्गीय जातियों के लोगों को दुर्ग बनाने, प्रासाद बनाने और अन्य कार्यों में मजदूरी पर लगा लेते थे। यह प्रवृत्ति आगे चल कर बेकार के रूप में विकसित होकर अछूतों और

निम्न शूद्र वर्गीय जातियों के पाँवों की बेड़ियां बन गईं, जिनसे मुक्त सामंती है शासन के अंत के बाद भी मिल सकी।"[7] मध्य काल के बाद भारतीय समाज पर ब्रिटिश शासन का प्रभाव पड़ता है। लंबे समय तक अंग्रेजों के संपर्क में रहने के कारण भारतीय समाज पर पाश्चात्य का प्रभाव बहुत दिखाई देता है। ईसाई मिशनरियों ने भारत में उनके कार्य अंग्रेजी शिक्षा, अस्पताल एवं ईसाई धर्म से भी भारतीय जनता बहुत प्रभावित हुई। खासकर निम्न वर्गों एवं जनजातियों के क्षेत्रों में इसका प्रभाव देख सकते हैं। आधुनिक युग आते-आते भारतीय समाज में जो निम्न वर्ग में भी विरोध के स्वर देखने को मिलते हैं। जिनमें कई आंदोलन देख सकते हैं। "इस काल में जिस प्रकार के धार्मिक शक्तियों का उदय हुआ, उसने धीरे-धीरे जाति व्यवस्था की रीढ़ तोड़ दी। इसी काल में ही समाज-सुधार के आंदोलन भी प्रारंभ हुए। डॉ. अम्बेडकर, ज्योतिबा फुले और रामास्वामी पेरियार ने दलित समाज को हिंदू अन्याय से परिचित करावाया, वहीं ईसाई धर्म प्रचारकों ने अछूतों के लिए शिक्षा के द्वार खोल दिए। यह काल दलित जागरण की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है, क्योंकि इसी काल में दलित वर्ग को मानवीय गरिमा का बोध हुआ।"[8] अंग्रेजों के प्रभाव के कारण जाति नियम कमजोर हुए, छुआछूत कम हुए, जातियों के वंशानुगत व्यवस्था समाप्त होने लगे और जातियाँ भी शिथिल हुई। अंतर-जाति विवाह होने लगे जाति प्रथा भी कमजोर हुई।

आधुनिक काल में निम्न जातियों के कई आंदोलनों एवं कई संस्थाएं बनी। ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज, सत्यशोधक समाज इन समाजों ने धार्मिकता के आधार पर सामाजिकता के आधार पर अंधविश्वास के आधार पर सामाजिक संरचना में आ रही बुराइयों पर कुठाराघात किया। नारायण गुरु 1854 से 1928 ने दलितों के लिए मौखिक नहीं जमीनी स्तर पर काम किया एवं कई मंदिर बनवाए। जिनमें सभी वर्णों के लिए उनके दरवाजे खुले थे। "मध्य काल के विषय में मुस्लिम शासकों में हिंदू दमन का प्राच्यवादी आख्यान राष्ट्रवादी और फुले की विचारधाराओं में भिन्न-भिन्न आशयों से निरूपित हुआ। वास्तव में दोनों प्रतिक्रियाएँ एक ही ज्ञानमीमांसा की उपज थीं। समाज और धर्म सुधार आंदोलन में भी औपनिवेशिक आधुनिकता की अंतर्विरोधी फलश्रुतियों को देखा जा

सकता है। ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज और धर्म सुधार आंदोलनों द्वारा उपनिषद आदि उच्च संस्कृत पाठों की पुनर्व्याख्या के विरुद्ध फुले के सत्य शोधक समाज ने समाज और धर्म सुधार की अलग परिकल्पना रखी।"[9] ज्योतिबाराव फुले ने सत्यशोधक समाज की स्थापना की। उनका उद्देश्य समाज के कमजोर वर्ग को सामाजिक न्याय दिलाना। उन्होंने सभी वर्णों के अनाथ बच्चों तथा स्त्रियों के लिए पाठशाला खोले और अनाथालय खोलना। समाज में यह कार्य एक क्रांति के रूप में देखा जा सकता है। नारायण गुरु ने एक नारा दिया-मानव के लिए एक धर्म एक जाति और एक ईश्वर। मतलब भारतीय समाज या यू कहे हिंदू समाज जो चतुर्थ वर्ण अनेक देवी, देवताओं, अंधविश्वासों कर्मकांड में उलझा हुआ था। उस आधार पर एक धर्म एक जाति और एक ईश्वर की बात इसमें समानता की बात दिखाई देती है।

भारतीय समाज प्राचीन समाजों में से एक है। यह समाज हमेशा से अपने अंदर आ रही कमियों को दूर करता है। मनुष्य के लिए जो चीजें बेहतर हैं उनको स्वीकार करता है। उसका एक ही ध्येय है मानव कल्याण। इसी उद्देश्य से हमेशा अपने विचार और व्यवहार करता है। भारतीय समाज और संस्कृति के विभिन्न पक्षों में अनेकता के दर्शन दिखाई देते हैं, जिसमें क्षेत्र के जातिगत, प्रजातिगत तथा धार्मिक विभिन्नता संपूर्ण समाज में व्याप्त है, इसीलिए भारतीय समाज को इन्द्रधनुष की संज्ञा दी जाती है। भारतीय संस्कृति में विभिन्न प्रकार के सांस्कृतिक तत्वों का अनुपम समन्वय देखने को मिलता है। इनमें सैकड़ों जातियाँ उपजातियाँ देखने को मिलती है। विभिन्न भाषा-भाषी लोग भी हैं साथ ही अनेक धर्मों का जन्म स्थल भी है। यहाँ हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, बौद्ध आदि धर्मो के लोग निवास करते है। आज यह देश भोगौलिक दृष्टि से भी अनेक क्षेत्रों में बाँटा है जलवायु संबंधी भिन्नता भी कम नहीं है। साथ ही लोगों के रहन-सहन खान-पान तथा वेशभूषा में भी कई प्रकार की विधाएँ दिखाई पड़ती है। ग्रामीण और नगरीय लोग परंपरावादी के साथ-साथ आधुनिक कहे जाने वाले वेशभूषा और खानपान स्वीकार कर रहे है। लेकिन ग्रामीण परिवेश में आज भी भारतीय समाज की छवि देखने को मिलता है। विभिन्न नृत्य शैलियों के अतिरिक्त तुर्की, ईरानी, भारतीय, पाश्चात्य, चित्रकला, मूर्तिकला

और वास्तुकला के विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं। मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर, स्तूप आदि कला की भिन्नताओं का सरलता से पता लगाया जा सकता है। भारतीय समाज के कुछ सूक्ति भी हैं जैसे- सादा जीवन उच्च विचार, यह सूक्ति वाक्य मनुष्य को उनके जड़ से जोड़ें रखता है और विचारों से उन्नति की ओर अग्रसर करता है। वसुदैव कुटुंबकम, प्रत्येक प्राणी को विश्व कुटुंब का सदस्य स्वीकार करता है तथा विश्व को एकता के सूत्र में बांधने का पाठ पढ़ाता है। भारतीय समाज और संस्कृति के ऐसे आदर्श विचार सदैव एकता को बनाए रखते हैं। भारतीय संस्कृति कर्म को बहुत अधिक महत्व देती है और प्रत्येक कर्म को अच्छे और बुरे दो वर्गों में विभक्त करती है। जिससे अच्छे कर्म करने वाले व्यक्ति को श्रेष्ठ और निम्न कर्म करने वाले को बुरा व्यक्ति कहा जाता है। इसको पुनर्जन्म से भी जोड़ा जाता है इसीलिए भारतीय समाज के लोग हमेशा अच्छे कर्म करने के लिए ही प्रेरित होते हैं। भारतीय समाज एवं संस्कृति की एक विशेषता यह है कि इसका संबंध किसी एक व्यक्ति, वर्ग, धर्म या किसी एक व्यक्ति से नहीं होकर समाज के सभी पक्षों से है और इसके निर्माण में राजा, किसान, मजदूर, शिक्षित, शूद्र, ब्राह्मण आदि सभी का योगदान रहा है। भारतीय संस्कृति में कहा गया है सर्वे भवंतु सुखिना: अर्थात सभी सुखी हो। भारतीय समाज और संस्कृति की कुछ मौलिक विशेषताएँ हैं इन्हीं कारणों से भारतीय समाज सदैव एकता रही है और भारतीय संस्कृति की ज्योति हमेशा विश्व पटल पर दिखाई देती है।

1.2 समाज अध्ययन की विभिन्न पद्धतियाँ:

समाजशास्त्र में मनुष्य के व्यवहार अथवा मनुष्य के मध्य अंतर क्रियाओं के सामाजिक संबंधों एवं प्रक्रियाओं का अध्ययन है। जिनके द्वारा मानव समूह की गतिविधियाँ संचालित होती हैं। जीवित रहने के लिए सभी मनुष्य एक दूसरे के साथ अंतःक्रिया करते हैं। अरस्तु ने कहा-'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।' उसका स्वभाव और आवश्यकताएँ दोनों ही उसे समाज में रहने के लिए प्रेरित करती है। समाज में मनुष्य का व्यवहार हमेशा समुदाय के सापेक्ष निर्धारित होता है। मनुष्य अनादि काल से ही इन शक्तियों को समझने नियंत्रित करने का प्रयास करता आया है। यह स्वाभाविक ही था

कि मनुष्य सामाजिक घटनाओं की अपेक्षा प्राकृतिक घटनाओं को समझने तथा उन पर नियंत्रण करने का प्रयत्न प्रारंभ में ही किया जिसमें उसे सफलता मिली। क्योंकि प्राकृतिक घटनाएँ स्थूल थी और वह उन्हें एक निष्पक्ष दर्शक के रूप में अच्छी प्रकार देख और पढ़ सकता थी। मनुष्य एक सामाजिक दायरे में रहने लगा और फिर उन पर अपने क्रियाओं के द्वारा एक दूसरे को प्रभावित करने लगा जब यह एक समुदाय और एक बड़े समूह में बदल गया तो इस पर भी अध्ययन होने की एक जरूरत पड़ी इसी अध्ययन को समाजशास्त्र का रूप दिया गया लेकिन किसी भी विषय को समझने के लिए उसके कुछ सिद्धांत होते हैं उन्हीं सिद्धांतों की बात समाजशास्त्र भी करता है। "प्राकृतिक दुनिया और सामाजिक या सांस्कृतिक दुनिया में दो मुख्य अंतर हैं। पहले तो प्राकृतिक दुनिया का पर्यवेक्षण और उसकी व्याख्या केवल बाहर से की जा सकती है जबकि मानव गतिविधि की दुनिया का पर्यवेक्षण और उसकी समझ भीतर से प्राप्त की जा सकती है। यह इसलिए हमारी समझ में आती है क्योंकि हम भी इसी संसार के हिस्से में है और अपने ही समान दिमागों की रचना का हमें अध्ययन करना पड़ता है। दूसरे प्राकृतिक दुनिया की परिघटनाओं के बीच का संबंध कार्यकारण का यांत्रिक संबंध है जबकि मानवी दुनिया की परिघटनाओं के बीच का संबंध मूल उद्देश्य का संबंध है।"[10]

समाज को समझने के लिए सिध्दांत की जरूरत होती है उसी सिध्दांत को पद्धति करते हैं। समाजशास्त्र अभी अपने शैशवकाल में है इसने अभी कोई सामाजिक पद्धति नहीं विकसित की है अतः वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर ही इनका विश्लेषण किया जाता है। "सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करने में समाजशास्त्री कई पद्धतियों का प्रयोग करते हैं चैपिन (Chapin) के अनुसार समाजशास्त्र की तीन प्रमुख पद्धति है- ऐतिहासिक पद्धति, सांख्यिकी पद्धति तथा पर्यवेक्षण पद्धति। एलवुड (Ellwood) ने पांच पद्धतियों का जिक्र किया है- मानवशास्त्रीय या तुलनात्मक पद्धति, ऐतिहासिक पद्धति, सर्वे पद्धति, निगमन पद्धति, तथा दार्शनिक पद्धति। हार्ट (Hart) ने भी पांच पद्धतियों का जिक्र किया है। ये हैं- सहजबुद्धि पद्धति, ऐतिहासिक पद्धति, संग्रहालय सर्वेक्षण पद्धति, प्रयोगशाला या प्रयोगात्मक पद्धति तथा संघ की पद्धति।"[11]

समाज अध्ययन की पद्धतियों में प्रमुख वैज्ञानिक पद्धति है जिसमें पर्यवेक्षण, प्रलेखन, वर्गीकरण, कल्पना, सत्यापन एवं पूर्व कथन करते हैं। पर्यवेक्षण का अर्थ होता है वस्तुओं को ध्यान पूर्वक देखना पर्यवेक्षण दो प्रकार का होता है पहला- स्वाभाविक दूसरा- नियंत्रित। स्वाभाविक परीक्षण वह होता है जिसमें समाज द्वारा घटित घटनाएं शुद्ध होती है। लेकिन नियंत्रित परीक्षण वह है जिसमें एक परिस्थितियाँ बनाते हैं और उन्हें आधारों पर आगे वह घटनाएं होती रहती हैं। जो सुचारू रूप से चलाते हैं इसे नियंत्रित परीक्षण करते हैं। सर्वेक्षणों के आंकड़ों को लेखबद्ध करना ही प्रलेखन कहलाता है। वर्गीकरण का मतलब समान विशेषताओं वाले तथ्यों को एक वर्ग में रखना। इसके बाद उपकल्पना अर्थात वर्गीकरण करने के बाद जो चीजें समझ में आते हैं उनको लिपि बंद करना। अंतिम कार्य पूर्व कथन का होता है जिसमें हम तथ्यों के पर्यवेक्षण के आधार पर निर्मित सामान्य सिद्धांत बनाते हैं। यही पूरी प्रक्रिया वैज्ञानिक या प्रयोगात्मक पद्धति के अंतर्गत आती है वैज्ञानिक पद्धति के विषय में विद्या भूषण जी लिखते हैं कि -"समाजशास्त्र में प्रयोगात्मक पद्धति को प्रत्यक्ष रूप से प्रयुक्त नहीं किया जा सकता है, क्योंकि मानव-व्यवहार बड़ा जटिल होता है जिसे पर्यवेक्षक, तुलना तथा प्रयोग के लिए नियंत्रित अवस्था में ला पाना कठिन होता है। परंतु अप्रत्यक्ष रूप से तथ्यों का परीक्षण करके, उनका वर्गीकरण करके तथा उनके बीच अन्तर्सम्बन्ध स्थापित करके, उनकी अस्थायी व्याख्या करके, उस अस्थायी व्याख्या का सत्यापन करके, सामान्य समाजशास्त्र सिद्धांतों का निर्माण करके तथा इन सिद्धांतों के आधार पर पूर्वकथन करके समाजशास्त्र प्रयोगात्मक पद्धति का प्रयोग अवश्य करता है।"[12] उपरोक्त व्याख्या से यह विदित होता है कि समाजशास्त्र में स्वाभाविक पर्यवेक्षण का अध्ययन कर सकते हैं क्योंकि घटनाएं जो समाज में घटित हो रही हैं, उनको अप्रत्यक्ष रूप से जानकर, देखकर, पढ़कर, उनके द्वारा सिद्धांत गठित कर सकते हैं। लेकिन मानव इसके केंद्र में होता है इसलिए नियंत्रित परीक्षण उस पर नहीं हो सकता, क्योंकि व्यक्ति का स्वभाव कैसा है, और वह कैसा व्यवहार करेगा यह किसी को भी नहीं पता। इसलिए समाजशास्त्र स्वाभाविक पर्यवेक्षण को मानता है और उन्हीं सिद्धांतों पर अपनी व्याख्या करता है। समाजशास्त्र के अंतर्गत ऐतिहासिक पद्धति भी मानी जाती

है। "ऐतिहासिक पद्धति में भूतकालीन में सभ्यताओं की घटनाओं, प्रक्रियाओं और संस्थाओं का अध्ययन किया जाता है, ताकि वर्तमान सामाजिक जीवन के आरंभ तथा उसकी प्रकृति एवं कार्यविधि का ज्ञान हो सके। इतिहास और समाज का परस्पर इतना घनिष्ठ संबंध है कि जी. ई. हावर्ड (G. E. Howard) जैसे कई समाजशास्त्री इतिहास को भूतकालीन समाजशास्त्र और समाजशास्त्र को वर्तमान इतिहास मानते हैं स्पष्ट है कि हमारे सामाजिक जीवन के आधुनिक रूप (Forms) हमारे रिवाज अथवा जीवन यापन की विधियों (Way of Living) की जड़ें अतीत से जुड़ी हुई हैं। इसलिए इनकी व्याख्या इनकी मूल स्रोतों की सहायता से ही की जा सकती है और ऐसा केवल इतिहास के सहयोग से ही संभव है।"[13] समाजशास्त्र की यह पद्धति इतिहास के तथ्यों पर टिकी हुई है। जिसमें मानव समाज की जीवन चरित्र को इतिहास से देखते हैं और उनका समाजशास्त्रीय ढंग से विश्लेषण करते हैं। लेकिन सबसे बड़ा संदेह यह है कि जिन तथ्यों को हमने इतिहास से प्राप्त किया है क्या यह पूर्णत: सत्य हैं या आंशिक सत्य है। इसकी जाँच परख नहीं हो सकती है। इसलिए समाजशास्त्री ढंग से अगर हम किसी भी जीवन चरित्र को उठाते हैं और उनका विश्लेषण करते हैं और बाद में वह असत्य सिद्ध होता है तो यह पूरी प्रक्रिया विफल मानी जाएगी। भारतीय साहित्य या अन्य विषय जो मानव समाज से संबंधित हैं उनमें सबसे लोक प्रचलित समाजशास्त्री पद्धति तुलनात्मक पद्धति है जिसमें गुणों के आधार पर समान एवं भौगोलिक रूप समान, वस्तुगत रूप से समान समाज के अंतर एवं समानता का विश्लेषण करते हैं। "समाजशास्त्री एक भौतिक विज्ञानवेत्ता की भाँति किसी प्रयोगशाला में किसी विशेष सामाजिक घटना के संदर्भ में प्रयोग पद्धति और उसकी सारी अवस्थाओं जैसे पर्यवेक्षण, वर्गीकरण, उपकल्पना, सामान्य सिद्धांत निरूपण आदि का समुचित प्रयोग नहीं कर सकता। परन्तु समाजशास्त्री तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग करके विश्व- प्रयोगशाला में प्रयोग अवश्य कर सकता है। इस पद्धति में विभिन्न प्रकार के समूहों या व्यक्तियों की तुलना की जाती है, जिससे उसके रहन-सहन के ढंग की विविधता एक-रूपता का पता चलता है और इस प्रकार मानव के सामाजिक व्यवहार के प्रमुख लक्षणों का ज्ञान प्राप्त होता है।"[14] यह पद्धति शोध के लिए सबसे लोकप्रिय पद्धतियों में मानी जाती है

जिसमें समाजों और समुदायों, व्यक्तियों, स्थानों की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक विचारों का अध्ययन करते हैं। लेकिन यह पद्धति इतनी सरल नहीं है जितनी लगती है क्योंकि प्रत्येक समाज के भिन्न-भिन्न, रीति रिवाज, परंपराएं होती हैं। जैसे कि भारत में ही दक्षिण की परंपरा है पूर्वोत्तर भारत में नहीं मिलती और पूर्वोत्तर की परंपराएं उत्तर भारत में नहीं मिलती है। इसलिए यह पद्धति बहुत ही जटिल रूप में भारतीय परिपेक्ष्य में आती है।

तुलनात्मक पद्धति को बहुत दिनों तक समाजशास्त्र की सर्वोत्तम पद्धति माना जाता रहा है "समाजशास्त्री व्याख्या का 'एकमात्र मतलब कार्य कारण संबंधों की स्थापना है', इसके बाद उसने कहा कि एक परिघटना किसी दूसरी पर घटना का कारण है इसे दिखाने का एकमात्र तरीका यह है कि ऐसे मामलों की परीक्षा की जाए जिसमें दो परियोजना एक ही साथ उपस्थित या उपस्थित हों और इस तरह देखा जाए कि एक पर दूसरी निर्भर है अथवा नहीं। अनेक प्राकृतिक विज्ञान में कार्य-कारण संबंध प्रयोग के आधार पर स्थापित किए जाते हैं लेकिन चूंकि दुर्खीम के मुताबिक समाजशास्त्र में प्रयोग करना असंभव है इसलिए यहां अप्रत्यक्ष प्रयोग की पद्धति अर्थात तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग करना पड़ता है।"[15] तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग समाजशास्त्र में वैज्ञानिक ढंग से नहीं किया जा सकता है।इसका प्रयोग समाज या समुदाय में निवास करने वाली जनता पर ही किया जाता है। इस स्थिति में आंतरिक एवं वाह्य परिवर्तनों को देखकर किया जाता है। "तुलना उन्हीं समाज के बीच की जाए जो व्यापक तौर पर समान हों यानी किसी पूर्व वर्गीकरण के द्वारा जो समाज एक ही प्रकार के निर्धारित हो चुके हों। दरअसल तो वर्गीकरण के लिए यह तुलना की जरूरत पड़ती है लेकिन अत्यंत व्यापक और सामान्य स्तर की। तब परिकल्पना की परीक्षा के लिए विस्तृत तुलना इस आश्वासन के साथ की जा सकती है कि तुलना की इकाइयां पूरी तरह बेमेल नहीं हैं या गलत नहीं समझी गई हैं। वस्तुतः लगता है कि इसी तरह तुलनात्मक पद्धति का सर्वाधिक सफल प्रयोग हुआ है।"[16] समाजशास्त्र में तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग बहुत ही सावधानी पूर्व करने की सलाह दी गई है। तुलना किसी भी वस्तु किसी भी

समाज की तब करते हैं जब मैं गुणधर्म बराबर हो या कुछ धर्म मिलते हैं। कभी भी बेमेल गुणधर्म के तत्वों या समुदायों का तुलना नहीं करते हैं।

समाजशास्त्रियों ने प्रकार्यवाद पद्धति के द्वारा समाज को विश्लेषण करने का प्रयास किया है। "इस पद्धति के अंतर्गत समाज के किसी भाग को उसके कार्यों, न कि उद्भव अथवा उपयोगिता के अर्थ में समझने का प्रयास किया जाता है। दूसरे शब्दों में, प्रकार्यवाद सामाजिक संस्थाओं, यथा परिवार, वर्ग, राज्य, धर्म आदि का अध्ययन उसके द्वारा किये गए कार्यों के दृष्टिकोण से करता है यह समाज के विभिन्न वर्गों का प्रकार्यात्मक विश्लेषण है।"[17] दुर्खीम प्रकार्यवाद की सामाजिक संरचना और उसके संगति के विचारों को प्रकट किया है- "सिद्धांत के बतौर प्रकार्यवाद पर विचार करते हुए पहले ही यह दिखाया जा चुका है कि समाज और किसी जीव के बीच तुलना से कोई दिक्कतें उठ खड़ी होती हैं और संस्थाओं के 'सामान्य' और 'असामान्य' कार्य संपादन के बीच भेद करने के दुर्खिम जैसे प्रयासों में क्या कठिनाइयां हैं। प्रकार्यवाद में जो सैद्धांतिक अपूर्णताएं हैं उनसे की पद्धति पूरी तरह मुक्त नहीं हो सकती; फिर भी इसमें कुछ विशेषताएं हैं जिन पर हम अलग से विचार कर सकते हैं।"[18]

समाज अध्ययन की अगली पद्धति प्रतिकूल निगमन पद्धति है जिस का सर्वप्रथम प्रयोग जे. एस. मिल ने किया था "सामाजिक जीवन के विभिन्न तत्वों में परस्पर संबंध होता है। टेलर द्वारा प्रस्तुत पद्धति का प्रयोग करके हम पता लगाते है कि सामाजिक जीवन के कौन-कौन से तत्वो में कार्य-संबंधी परस्पर संबंध है। जैसा कि हम पहले पढ़ चुके हैं कि टेलर ने आदिम व्यक्तियों के परिवार से संबंधित संस्थाओं एवं रीति-रिवाजों के तुलनात्मक तथा सांख्यिकी अध्ययन (Statistical Study) के इस पद्धति का प्रयोग किया था और हमें यह बताया था कि सास-परिहार का रिवाज मातृत्व-प्रधान परिवार-व्यवस्था से संबंधित है।"[19] इस पद्धति में एक कार्य दूसरे कार्य पर निर्भर होता है जिसे कार्य कारण सिद्धांत भी कहते हैं। इस प्रकार जीवन की कोई एक घटना जीवन की किसी दूसरी घटना से प्रभावित होता है या संबंधित होता है। इसमें नियम सामाजिक घटनाओं की व्याख्या

विश्लेषण नहीं करते हैं सांख्यिकीय के अधिक निकट प्रतीत होते हैं जबकि समाजशास्त्र सामाजिक मनोविज्ञान के मानव जीवन के विकास को संचालित करती हैं। इस प्रकार यह पद्धति प्रतिकूल निगमन विधि का प्रयोग करता है जो तुलनात्मक पद्धति द्वारा प्राप्त भावनात्मक सामान्य कारणों के परम मूल्यों से प्राप्त निगमन का मिश्रण रूप है।

मैक्स पेपर और दुर्खीम ने सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करने हेतु आदर्श प्रकार पद्धति का सहारा लिया है। किसी व्यक्ति समाज का एक आदर्श स्वरूप स्थापित करते हैं और उसी आदर्श स्वरूप के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का विश्लेषण करते हैं। लेकिन इस आदर्श पद्धति की एक बड़ी कठिनाई यह है कि किसी भी समाज के लिए एक आदर्श स्वरूप स्थापित करना अपने आप में ही बहुत कठिन कार्य है। अगर यह कार्य कर भी लेते हैं कि व्यक्ति और समाज का एक आदर्श स्वरूप स्थापित कर लेते हैं तो दूसरी सबसे बड़ी समस्या इस पद्धति की यह आती है कि समाज निरंतर परिवर्तनशील है जब समाज में परिवर्तन होगा तो उसके आदर्शों में परिवर्तन आएगा। जो पुराने आदर्श स्थापित हैं फिर वह जो नए परिवर्तनों के साथ टकराएंगे तो पद्धति में अवरुद्ध उत्पन्न होगा या विद्रोह उत्पन्न हो सकता है इसलिए यह पद्धति कारगर नहीं सिद्ध जान पड़ती है जैसा कि भारतीय समाज भी कई मतों में बाँटा हुआ है कई समाजों में बँटा हुआ है तो इसमें भी इस पद्धति का प्रयोग करना बहुत ही जटिल कार्य होगा।

समाजशास्त्र के अध्ययन के लिए "सांख्यिकीय पद्धति का प्रयोग सामाजिक घटना-वस्तु गणितीय, आधार आंकड़ों की सहायता से नापने में किया जाता है बोगार्ड्स (Bogardus) के अनुसार, "सामाजिक सांख्यिकी मानव-तथ्यों में प्रयुक्त गणित है।" ओडम (Odum) ने लिखा है, "सांख्यिकी, जो घटना वस्तु को वस्तुनिष्ठ ढंग से नापने एवं गिनने का विज्ञान है, शोध का अनिवार्य केंद्रीय भाग है।" जेम्स स्मिथ (James Smith) ने लिखा है, सांख्यिकीय की पद्धति आंकड़ों एवं सांख्यिकीय सिद्धांतों के प्रयोग द्वारा तथ्यों की व्याख्या करने की प्रक्रिया है।" अतएव यह स्पष्ट है कि मात्राबोधक समस्यायों, यथा जनसंख्या की वृद्धि, जन्म और मृत्यु दर में कमी या वृद्धि, आय में

गिरावट, आदि समस्याओं के विश्लेषण में इस पद्धति का प्रयोग लाभदायक ढंग से किया जा सकता है।"[20] समाजशास्त्रीय शोधों में आंकडों पर महत्त्वपूर्ण बल दिया गया। वर्तमान समय में जैसे जनसंख्या, देशांतर, आर्थिक दशा में मानव पर्यावरण आदि का अध्ययन संख्या के आधार पर एकत्रित किया जाता है जिससे सांख्यकीय समाजशास्त्रीय शोध में बहुत ही आवश्यक कार्य है परंतु सांख्यिकी पद्धति का प्रयोग समाजशास्त्र के अर्थ में करने पर यह बड़ी कठिनाई है कि मानव समस्याएँ संख्यात्मक न होकर की गुणात्मक होती हैं अतः इस पद्धति का प्रयोग कुछ सीमित स्थानों पर ही किया जा सकता है।

"कुछ समाजशास्त्रियों ने ईर्ष्या, वर्ग-संघर्ष तथा सामाजिक सामंजस्य (Social Adjustment) आदि गैर-सांख्यिकी विषयों को नापने के लिए समाजमिति पद्धति का प्रयोग किया है। समाजमिति अंत: वैयक्तिक संबंधों में आकर्षण तथा विकर्ण की संख्यात्मक एवं रेखाचित्रात्मक (Diagrammatic) शब्दों में नापने की विधि है। यह पद्धति छोटू समूह की संरचनाओं, व्यक्तित्व के लक्षणों एवं सामाजिक प्रास्थिति के अध्ययन में बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है। यह लोगों की एक-दूसरे के प्रति भावनाओं का उद्घाटन करती है तथा अन्तक्रिया की विभिन्न तालिकाएं या नाप प्रस्तुत करती है। समाजमितिक परीक्षण, व्यक्तियों को कार्य-समूहों में इस प्रकार विभक्त करने में कि अधिक से अधिक अंत: वैयक्तिक तालमेल एवं कम से कम संघर्ष उत्पन्न हो, बहुत सहायक हो सकता है।"[21] यह पद्धति व्यक्ति के आंतरिक अनुभव का विश्लेषण करता है यह मनोविज्ञान के अधिक निकट प्रतीत होता है। लेकिन यह व्यक्ति के आचार व्यवहार विचार का विश्लेषण करता है इसलिए यह पद्धति समाजशास्त्र के लिए उपयुक्त पद्धति साबित होती है।

समाजशास्त्र एवं अन्य विषयों में सामाजिक सर्वेक्षण पद्धति सबसे लोकप्रिय पद्धति मानी जाती है। जिसमें समाज में जाकर सर्वेक्षण करते हैं जिसमें सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, स्थितियों की पड़ताल करते हैं। इस पद्धति में किसी भी समाज में निवास करने वाली जनता का क्षेत्र निर्धारित रहता है जिससे हमें व्यक्तियों के रहन-सहन एवं कामकाज की अवस्थाओं का पता चल

जाता है जिससे संबंध में आंकड़े इकट्ठे करते हैं और कुछ सुझाव देते है उनकी दशा में सुधार हो सके और कल्याणकारी कार्य किये जायें। समाज उच्चतर स्तर को प्राप्त कर सके।

साक्षात्कार पद्धति प्रश्नावली पद्धति यह पद्धति जिसमें कुछ प्रश्नों को सुनते हैं और समूहों में जाकर हाँ या नहीं की उत्तर प्राप्त करते हैं और फिर इनका विश्लेषण एवं आकलन करते हैं यह पद्धति समाजशास्त्र के साथ-साथ अन्य विषय की शोधों के लिए भी प्रयुक्त की जाती है। लोकमत संग्रह पद्धति भी समाजशास्त्री एक महत्त्वपूर्ण पद्धति है इसका प्रयोग उस भूभाग के लोगों का मत जानने के लिए किया जाता है जिससे उस क्षेत्र में कानून या नियम बनाया जा सके। "इस पद्धति का प्रयोग किसी विषय पर जनता की विचारों, उनकी भावनाओं एवं उनके दृष्टिकोणों का पता लगाने के लिए किया जाता है। अमेरिका में 'लोकमत-संग्रह' बड़ा प्रिय है। वहां सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दशाओं पर लोकमत को जानने में प्राय इस पद्धति का प्रयोग किया जाता है। जनता संबंधित प्रश्नों के उत्तर 'हाँ' 'नहीं' 'नहीं मालूम' में देकर अपने मत को प्रकट करती है।"[22] इस पद्धति का प्रयोग सत्ता, अधिकारी समाज में कानून व्यवस्था बनाने एवं समाज को सुचारू रूप से चलाने के लिए प्रयुक्त करते हैं जिससे वहाँ की आम जनता की जो भी आवश्यकताएँ होती हैं उसी अनुसार इन कानून और इन नियमों का निर्माण किया जाता है।

"समाजशास्त्र एक नई पद्धति है, अन्य सामाजिक विज्ञान जिन तथ्यों पर पहले विचार कर चुके हैं उन्हें देखने का एक नया तरीका है। वह नया दृष्टिकोण ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अलग हटकर समाजीकरण या अंतःक्रिया के 'रूपों' पर विचार करने में निहित है; दूसरे वह कहता है कि इसलिए समाजशास्त्र अंत:क्रिया के उन रूपों पर विचार करता है जिनका ध्यान पारंपरिक सामाजिक विज्ञानों ने एकदम नहीं किया है।वह रूप राज्य, आर्थिक व्यवस्था इत्यादि बड़ी संस्थाओं में प्रकट नहीं होते बल्कि व्यक्तियों के बीच के छोटे और क्षणभंगुर संबंधों में प्रकट होते हैं।"[23] समाजशास्त्र मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के काफी नजदीक दिखाई पड़ता है लेकिन रूप गत पद्धति में यह सामाजिक संबंधों के प्राथमिक रूपों का अध्ययन एवं टकराव का दबाव देखने को मिलता है।

संरचनावाद पद्धति मानव समाज के सार्वभौम तत्वों की खोज इसका मुख्य लक्ष्य है। "इन दृष्टिकोण के प्रसंग में समाजशास्त्र की 'वैज्ञानिक प्रक्रिया' की बात करना किस हद तक न्यायोचित है? मुझे लगता है कि यह अनुशासन अपनी पद्धतियों और उद्देश्यों के तहत वैज्ञानिक है। इसकी पद्धति के महत्वपूर्ण लक्षण यह हैं :1. यह बच्चों को विचार करता है (उनके बारे में मूल्य निर्णय नहीं सुनाता); 2. यह वक्तव्यों के समर्थन में अनुसूचित प्रमाण प्रस्तुत करता है। 3. यह वस्तुनिष्ठ है (इस अर्थ में कि सबको अपने वक्तव्यों के आधारभूत प्रमाणों का ध्यान रखना पड़ता है)। अपने वैज्ञानिक उद्देश्य के तहत समाजशास्त्र का लक्ष्य है:1. किसी सामाजिक परिगणना के गुण धर्म और संबंधों के विशेषण के जरिए उसका सटीक वर्णन करना और 2. सामान्य वक्तव्यों के सुत्रीकरण के जरिए उसकी व्याख्या करना।"[24] समाजशास्त्र इस पद्धति के माध्यम से विज्ञान के और अधिक निकट होने का प्रमाण प्रस्तुत करता है। जिसमें तथ्य प्रयोग का अनुभव सिद्ध और वस्तुनिष्ठ और विवरणात्मक और व्याख्यात्मक विज्ञान की अंश दिखाई पड़ते हैं। समाजशास्त्र के अब ध्यान के लिए जिन पद्धतियों का प्रयोग करते हैं वह उपरोक्त कथनों में विवरणात्मक ढंग से प्रस्तुत किया जा चुका है। समाजशास्त्र की पद्धति के अध्ययन से क्या प्राप्त हो सकता है और क्या प्राप्त नहीं हो सकता है इन बातों पर भी चर्चा की जानी चाहिए।

"समाजशास्त्रीय गवेषणा की पद्धतियों से क्या हासिल हो सकता है और उसकी सीमाएं क्या हैं। सबसे पहले तो समाजशास्त्री अनुभवों पर आधारित आंकड़ों को इकट्ठा कर सकता है जिसके कारण व्यवहारिक मुद्दों पर पारंपरिक विचारों के मुकाबले ज्यादा तार्किक निर्णय ले पाना संभव होता है। दूसरा कभी-कभी वह किसी परिघटना की व्याख्या न भी दे सके तो उसके बारे में विवेक सम्मत भविष्यवाणी कर सकता है। तीसरा भाग कुछ सामाजिक परिघटनाओं की व्याख्या कर सकता है अर्थात उसके बारे में अधिक सामान्य वक्तव्यों के तहत कुछ वक्तव्यों की कल्पना कर सकता है। इसी अंतिम मामले में समाजशास्त्रीय पद्धति की सबसे गंभीर सीमाएं प्रकट होती हैं क्योंकि सामाजिक घटनाएं जटिल और अंत:संबंधित होती हैं और मानवीय क्रियाकलापों सृजनात्मक होते हैं।"[25] जिन

विभिन्न पद्धति और दृष्टिकोणों का विचार इस अध्याय में किया है। समाज के सामाजिक घटनाओं के विभिन्न स्तरों की जटिल से जटिल समस्याओं की पूरी की पूरी प्रक्रिया को समझने में सहयोगी सिद्ध होती है और यह समाज की विभिन्न घटनाओं के द्वारा इनका विश्लेषण और यथार्थ ढंग से खोजबीन करती है। साहित्य के समाजशास्त्र की आलोचनात्मक और प्रयोगात्मक दृष्टि की पद्धतियां ही लोगों को अपनी और आकर्षित करती हैं और इन्हीं के द्वारा समाज को समझने की एक दृष्टि देती हैं।

1.3 भारतीय समाज में दलित:

साहित्य के समाजशास्त्र का चिंतन फ्रांसीसी विचारक तेन से माना जाता है। मादाम स्पेन ने साहित्य के समाजशास्त्री चिंतन की परंपरा को आगे बढ़ाया पश्चिम के समाजशास्त्रीय उन्हें साहित्य के समाजशास्त्र के निर्माण एवं निरंतर विकास के लिए अपनी भूमिकाएं निभाई हैं। भारत में भी साहित्य के समाजशास्त्र को लेकर के मैनेजर पांडे, बच्चन सिंह, निर्मला जैन आदि लेखकों ने इस पर विचार किया और अपने मत स्पष्ट किये हैं। लेकिन भारत में साहित्य के समाजशास्त्र को समझने से पहले भारतीय समाज को समझना होगा, उसके साथ-साथ समाज को सुधारकों के द्वारा किये गये कार्यों को भी देखना जरुरी हो जाता है। जिसमें रामकृष्ण परमहंस, दयानंद सरस्वती, ज्योतिबा फुले, महात्मा गाँधी, डॉ. अंबेडकर, डॉ. राम मनोहर लोहिया आदि के द्वारा समाज में किये गए। जिनका भारतीय समाज के साथ-साथ साहित्य पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है।

महात्मा गाँधी

महात्मा गाँधी के द्वारा स्वतंत्रता संग्राम और सामाजिक परिवर्तन के प्रयासों दिखाई पड़ते हैं। इस देश को गुलामी से मुक्त कराने और स्वाधीन देश बनाने में गाँधी का बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान है इससे नकारा नहीं जा सकता है। स्वाधीनता आंदोलन के दौरान जनता गाँधी के बातों पर भरोसा करती थी उसमें भी दो राय नहीं है इसीलिए भारतीय जनमानस में गाँधी के द्वारा सामाजिक, राजनीतिक और

धार्मिक सुधार के साथ सुझाव भी दिये थे और सांस्कृतिक चेतना का जो प्रयास है। वह समाज पर दिखाता है। समाज को परिवर्तित करने का जो क्रियात्मक रूप गाँधी में दिखाई देता है वह अन्य नहीं दिखाई देता। "गाँधी इस बात को मानते है कि प्रत्येक व्यक्ति के अपने जीवन को सुधार लेने से ही समाज सुधर जाता है और उसमें प्रचलित बुराइयाँ दूर हो सकती है। अगर व्यक्ति का सुधार हो गया तो साथ-ही-साथ और अनिवार्य रूप से समस्त का सुधार हो जाता है इसलिए उनके सिद्धांत को क्रियात्मक रूप देना प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार में है। ऐसे लोग हिंदुस्तान में मिले है जो उनके विचारों से अपना जीवन परिवर्तित कर सके उसी अंश में उसका क्रियात्मक रूप देखा जा सकता है"[26] गाँधी के विचारों को देखे तो उनके यहाँ समाज को सुधार करने की जो प्रक्रिया है वह व्यक्ति की प्रक्रिया है कि अगर समाज के सारे व्यक्ति सुधर जाये और व्यक्ति की कमियाँ दूर हो जायें, तो समाज अपने आप ही सुधर जाता है। इन्होने समाज से ज्यादा व्यक्ति के व्यक्तित्व में परिवर्तन पर जोर दिया है। इसमे व्यक्ति के इच्छा शक्ति पर निर्भर करता है कि वह कैसे समाज का निर्माण करना चाहता है। "'गाँधीवाद' नाम की कोई वस्तु है ही नही; और ना मैं अपने पीछे कोई संप्रदाय छोड़ जाना चाहता हूँ। मेरा यह दावा भी नहीं है कि मैंने किसी ने तत्व या सिद्धांत का आविष्कार किया है। मैंने तो सिर्फ जो शाश्वत सत्य है, उनको अपने नित्य के जीवन और प्रतिदिन के प्रश्नो पर अपने ढंग से उतारने का प्रयासमात्र किया है।..... जो राय मैंने कायम की है, और जिन निर्णय पर मैं पहुँचा हूँ, वे भी अंतिम नहीं है। हो सकता है, मैं कल ही उन्हें बदल दूँ। मुझे दुनिया को कोई नई चीज नहीं सिखानी है। सत्य और अहिंसा अनादि काल से चले आये है। मैंने तो जहाँ तक मैं कर सका, इन दोनों के अपने जीवन में प्रयोगभर किये है। ऐसा करते हुए कई बार मैंने गलती भी की है, और उन गलतियों से मैंने सीखा भी है मतलब जीवन और उसके प्रश्नों द्वारा मुझे सत्य और अहिंसा के आचरणगत प्रयोग करने का अवसर मिल गया है। स्वभाव से मैं सत्यवादी तो था, किंतु अहिंसक न था..... सत्य की उपासना करते-करते ही मुझे अहिंसा भी मिली है।"[27] गाँधी के विचारों से यह स्पष्ट होता है कि गाँधी कोई विचारधारा या संप्रदाय मात्र नहीं है यह समय परिस्थितियों के अनुसार लिए गए निर्णयों का एक पुंज मात्र है जिसमें

सत्य और अहिंसा के द्वारा लिया गया निर्णय है वह बदल भी सकता है। और गलत भी हो सकता है लेकिन सत्य का साथ नहीं छोड़ना गाँधी के पूरे दर्शन में पाते हैं कि गाँधी हमेशा सत्य और अहिंसा के साथ-साथ सेवा के पूजक रहे हैं। "पूर्वग्रह से दूषित ना होना, किंतु सत्य को मानने के लिए सदा तैयार रहना, और इस कारण असत्य से, फिर वह कितना ही पुराना या बहुमान्य क्यो ना हो, और उसमें हम कितने ही आगे क्यों ना बढ़ चुके हो, वापस लौटने में भय या लज्जा न रखना, और साथ ही, जिस समय जिस बात के बारे में सत्यता का विश्वास हो, उसके लिए अपना सर्वस्व खोने को तैयार रहना। 'अहिंसा'- इसका अर्थ होता है हर प्रकार के अधर्म का -गाँधी की भाषा में कहे तो-पशु बल से नहीं, बल्कि 'आत्म बल' से विरोध करना। गाँधीजी कई बार समझा चुके है कि अहिंसा कोई निष्क्रिय अभावात्मक मनोवृत्ति नहीं है, बल्कि वह प्रवाह के विरुद्ध चलने की एक क्रियात्मक और भावना प्रधान प्रवृत्ति है। दुनिया में हिंसा का प्रयोग प्राचीन काल से होता रहा है। और बुद्धि तथा विज्ञान की सहायता से उसकी पद्धतियों को पूर्णता तक पहुँचाने और हिंसा का एक शास्त्र तैयार करने के प्रयत्न सदियों से हो रहा है। जिसका हिंसाबल विपक्षी के हिंसाबल की अपेक्षा अधिक संगठित, और सुधरा हुआ और मानव संपन्न होता है, उसके लिए हिंसा द्वारा अपने भौतिक व्येय को सिद्ध करने का मार्ग खुला है ही। ऐसी कोई बात नहीं है कि इस बल का उपयोग केवल अधर्म और अन्याय के विरुद्ध ही हो सकता है। इसमें तो जो ज्यादा बलवान होता है वही जीतता है; फिर भले उसका पक्ष अधर्म का ही क्यों ना हो;।"[28] गाँधी सत्य और अहिंसा को परिभाषित करते हैं कि अहिंसा केवल पशु बलि ही नहीं है वह आत्म बल भी है अपने आत्मबल के द्वारा ही कार्यों का विरोध करना। असत्य चाहे जितना पुराना हो या जनता द्वारा मान्यता प्राप्त हो उसका विरोध करना। चाहे उसमें आपको अपना सर्वस्व ही क्यों न गवाना पड़े। गाँधी का तीसरा वचन है सेवा।

महात्मा गाँधी सत्य अहिंसा और सेवा भाव को ही जीवन के मूलमंत्र मानते हैं इनका प्रयोग भारत की गुलाम जनता को आजाद कराने, सामाजिक रूप से पिछड़े जातियों के उत्थान के लिए और धार्मिक परिस्थितियों को बनाए रखने के लिए करते हैं। "भारतीय समाज का निर्माण भी उस विद्रोह के

फलस्वरूप हुआ है, वह युगों की कसौटी पर सफल साबित हुआ है, और इसलिए उसकी एक बार फिर परीक्षा की जानी चाहिए। समाज के संगठन का आधार पैसा नहीं, सेवा है और यह नया माप प्रस्तुत करता है। यह प्रेम का परिचायक और संयुक्त जीवन का स्तंभ है। जहाँ सेवा मानवी संबंधों का मूल आधार होती है वहाँ प्रेम जीवन का स्रोत सिद्ध होगा। उसी के बल पर वास्तव में सेवा की भावना कायम रह सकती है। और जब प्रेम और सेवा समाज के आधार बन जाएंगे तो शक्ति और धन बाद में स्थान मिलेगा। शक्ति का स्थूल स्वरूप पैसा है। पश्चिम में शक्ति और पैसा ही समाज के आधार है। उनके कारण वहाँ वर्गों और आमजनता में संघर्ष है, प्रतिस्पर्धा की भावना सर्वव्यापी हो रही है, भौतिक संपत्ति की भूख बढ़ी हुई है, बाजारों की तलाश है और सैनिकवाद की भावना जोरों पर है। उनको हटा दीजिए या उनका प्रभाव कम-से-कम कर दीजिए, आप ऐसे समाज की रचना कर सकेंगे जो दूसरे समाज से सर्वथा भिन्न होगा एक शब्द में कहे तो हम अपने प्राचीन समाज पर पुनः पहुंच जाएंगे अवश्य ही उसपर धूल चढ़ गई है।"[29] गाँधी अपनी पूरी विचारधारा के आधार पर प्रेम और सेवा भाव को मुख्य मानते हैं उसी आधार पर ही सामाजिक परिवर्तनों की बात करते हैं और भारतीय समाज के मूल में भी यही भाव उनको दिखाई देता है लेकिन आधुनिक काल में उनको इसमें कुछ बुराइयां दिखाई देती हैं उन्हें दूर करने के लिए वह पुनः से सत्य, अहिंसा और सेवा भाव को स्थापित करना चाहते हैं जिससे समाज में प्रेम स्थापित हो सके। महात्मा गाँधी भारत की जातीय संरचना को भी सेवा भाव से ही दूर करना चाहते हैं वह चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपने अंदर परिवर्तन लाये और उन परिवर्तनों के आधार पर ही समाज में परिवर्तन आयेगा। इसीलिए वह वर्णाश्रम व्यवस्था के पक्षधर दिखाई देते हैं। "समाज की परिस्थितियों ने गाँधी के मानस का पुनर्निर्माण किया है और गाँधीजी ने अपने व्यक्तित्व की छाप भारतीय समाज पर लगा दी है। उन्होंने एक नए धर्म का विकास किया जो हिंदू समाज के चार वर्णों और चार आश्रमों के अलग-अलग धर्मों का सम्मिश्रण है। गाँधी ने अपने व्यक्तित्व में किसान और जुलाहे के, व्यापारी और व्यवसाय के, युद्ध करने और रक्षा करने वाले क्षत्रिय के और अंततः लोकसेवक गुणों का एक साथ समावेश किया है सेवा और प्रेम के द्वारा वे

स्मृतिकर्त्ता और सूत्रकार के दर्जे तक पहुँच गये है। उन्होंने ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास के धर्मों को भी एक साथ अपनाया है। उन्होंने जीवन के आदर्शों का जो एकांतिक समझे जाते थे, सामजस्य और समन्वय कर दिया है और उनको व्यापक और सर्वांगीण बना दिया है।"[30] गाँधी यह मानते हैं कि जो वर्णों में विश्वास करते हैं उनको स्थापित करने के लिए उसकी पवित्रता और उसके सिद्धांतों का पालन करें। जिससे हिंदू समाज की शुद्धि हो सके और जो आवरण उस पर चढ़ गया है वह हटाने का प्रयास किया जा सके और यह कार्य है केवल प्रेम और सेवा के आधार पर ही किया जा सकता है। गाँधी के विचारों से प्रतीत होता है कि वह वर्ण व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था को बनाए रखना चाहते हैं और उनमें जो बुराइयां हो गई हैं उनको दूर करना चाहते हैं। "मैं इस रामराज्य का स्वप्न देखता हूँ, उसमें राजाओं और भिखारियों-दोनों के अधिकार सुरक्षित रहेंगे।

सच पूछिए तो गाँधी की सामाजिक 'फिलासफी' का यही मूलमंत्र है उनके स्वप्न में रामराज्य में राजाओं के साथ-साथ बेचारे भिखारी भी विद्यमान रहते है। इसमें शक नहीं है कि गाँधीजी उन भिखारियों के हक की हिफाजत करना चाहते है। यद्यपि हमें यह भी नहीं बताते हैं कि उन बेचारों के हक क्या होगे और उन्हें लेकर भी वे अभागे क्या करेगे, लेकिन सबसे मनोरंजक, नहीं, नहीं, हैरत में डाल देने वाली बात तो यह है कि गाँधीजी के उस सपने में राम राज्य में भी कुछ लोग भिखारी बने ही रहेंगे।"[31] गाँधी के विचार से समाज में राजा और भिखारी दोनों की कल्पना की गई है और उनकी इस पूरी विचारधारा को सफल होने के लिए उनके समाज में भिखारियों का होना भी उतना ही सही सिद्ध किया गया है लेकिन यह कहाँ तक न्यायोचित है कि एक ही समाज में वर्गों के आधार पर बैठे लोग एक दूसरे का शोषण नहीं करेंगे। गाँधी समाज को अपने गाँधीवादी ढंग से बदलने का प्रयास करते हैं जिसमें वह प्रत्येक व्यक्ति के अंदर सत्य अहिंसा और सेवा भाव को जागृत करते हैं लेकिन यह उनका पूरा प्रयास कल्पना मात्र दिखाई देती है जिससे कि प्रत्येक समाज में रहने वाले व्यक्तियों के अंदर एक साथ परिवर्तन तो नहीं दिखाई देता है और अगर राजा और भिखारी एक ही समाज में रह रहे हैं तो

वर्गों के आधार पर जो शोषण हो रहा है, इसलिए गाँधी जिस व्यवस्था के पक्ष में वह भी न्यायोचित नहीं दिखाई देता है।

"भारत में अस्पृश्यता-निवारण आंदोलन हिंदू धर्म की शुद्धि का आंदोलन है, हिंदू धर्म के लगभग 24 करोड लोग अनुयायी है। अनुमान लगाया गया है कि इसमें 4 करोड़ से ऊपर लोग अस्पृश्य माने जाते हैं। यह अस्पृश्यता दक्षिण भारत में अपने उग्र रूप में है, यहाँ तक कि वहाँ उनका समीप पहुँचना या दिख जाना भी वर्जित है। अस्पृश्यता की प्रथा में तथाकथित उनके वर्गों के लोगों का अस्पृश्य कहलाने वाले लोगों के स्पर्श से बचना ही आता है। अनुगम्य वे लोग है जिनके एक निश्चित हद की दूरी से अधिक पास आ जाने पर ऊँचे वर्ग के लोग अपवित्र हो जाते है। जिसके देखने-मात्र से भी अपवित्र हो जाते हैं ऐसे लोग अदर्शनीय है।

हिंदू समाज की बहिष्कृत जातियाँ जिन जगहों में सीमित रहती है, उन्हें 'गेटो' कहना ठीक होगा। भली-भांति सुसंबद्ध किसी भी समाज में जिन सामान्य सुविधाओं को हर प्राणी का अधिकार समझा जाता है, जैसे कि डाक्टरी सहायता, नाई, धोबी आदि सुविधा, वे भी इन्हें नहीं दी जाती। बहुत बड़ी संख्या में प्राणियों के इस तरह उत्पीड़न से उत्पीड़कों पर अमिट कलंक लग गया है और अस्पृश्यता का नासूर हिंदू धर्म की शक्ति को क्षीण करता जा रहा है; यहाँ तक कि इसने किसी समय की एक महान संस्था को विकृत कर दिया है मेरा अभिप्राय है वर्णाश्रम व्यवस्था से जो समाज की गलती या कमजोरियों के कारण जाति व्यवस्था में परिणत हो गई है। वर्णाश्रम का प्रयोजन तो था श्रम और पेशों का वैज्ञानिक ढंग से बँटवारा। किंतु अब यह बँटवारा सहभोज और विवाह संबंधों को संचालित करने की एक विस्तृत प्रणाली-भर बनकर रह गया है। संसार के श्रेष्ठ धर्म को खान-पान और विवाह-संबंधी हास्यप्रद नियमों की संहिता-मात्र बना दिया गया है।"[32]

महात्मा गाँधी हरिजनों की कई प्रश्नों का जवाब अपने संपूर्ण वांग्मय में देते हैं। अस्पृश्यता कैसे समाप्त हो सकती है इस सवाल के जवाब में वह कहते हैं कि सामान्य हिंदू अपने घरों में अन्य जाति के

लोगों को नौकरी पर रख ले। जो लोग अस्पृश्यता को दूर करना चाहते हैं वह हरिजन के बालक या कन्या को नौकरी दे या अपने कुटुंब में रख ले। जिससे अस्पृश्यता दूर हो जाएगी यह समाज के लिए अच्छा काम होगा। गाँधी हरिजनों को भी सलाह देते हैं कि अपने अंदर जो कमियाँ है उनमें और सुधार लाये जिससे कोई भी उन्हें बुरा न कह सके। महात्मा गाँधी इन सारी बातों से यह बताते हैं कि सामाजिक व्यवस्था जो दशकों से चली आ रही है उस व्यवस्था को वह वैसे की वैसे ही बनाए रखना चाहते हैं। और केवल समाज से अस्पृश्यता के भाव को दूर करना चाहते हैं। वह समाज से अमीरी-गरीबी या ऊंच-नीच की व्यवस्था को खत्म करने के विचार उनके समाधान में नहीं दिखाई देता है। दलितों के मंदिर प्रवेश पर भी गाँधी कोई कड़ा विरोध नहीं प्रदर्शित करते हैं। लेकिन वह चाहते हैं कि मंदिर सभी लोगों के लिए खुले और नये मन हरिजनों के लिए नये मंदिरों का निर्माण हो। मुंबई की विधानसभा से यह प्रस्ताव पास हुआ कि हरिजनों के लिए सार्वजनिक कुएं खोले जायें। लेकिन वह अमल में नहीं आता है इस विषय पर गाँधी हरिजनों को सत्याग्रह न करने और स्वयं भी असमर्थता जाहिर करते है। महात्मा गाँधी गुलामी और अस्पृश्यता के अंतर को बताते हैं। "यह सही है कि १८३३ में विधान-सभा ने कानून बनाकर गुलामी का अंत किया था। पर सन १९३२ में एक स्वैच्छिक संघ ने अस्पृश्यता का नाश किया है और इसके पीछे सत्ताबल नहीं है यह कहकर १९३२ के प्रयास का मूल्य कोई कम ना आंके। १९३२ का कार्य ऐच्छिक ही हो सकता था। गुलामी एक इकरार के समान थी और कानून के बल पर उसका पालन कराया जा सकता था। अस्पृश्यता एक धार्मिक प्रथा है। दीनबंधु एंड्रयूज ने सच ही कहा है कि अस्पृश्यता "नैतिक गुलामी" है। इसका कानून द्वारा अंत नहीं हो सकता था। इसे नष्ट करने का एकमात्र औपचारिक उपाय मुंबई में निश्चित किया गया था। फिर, मैं बता ही चुका हूँ कि ऐसा नहीं है कि इसके पीछे कोई सत्ताबल ना हो। यह सच है कि इसके पीछे जो सत्ता है वह नैतिक है, पर अंत में कानूनी सत्ता से नैतिक सत्ता ही अधिक प्रबल साबित होती है। पाठक समझन ले कि जिन विधायकों को केंद्रीय विधान-सभा में पास कराने का प्रयास किया जा रहा है, उसके द्वारा अस्पृश्यता का नाश कराने का इरादा जरा भी नहीं है। एक विधेयक का उद्देश्य तो हरिजनों

के मंदिर प्रवेश के लिए नियम बनवाया है, और दूसरे विधेयकों का उद्देश्य यह है कि अस्पृश्यता को कानूनन जो स्वीकृति मिली हुई है, उसे समाप्त कर दिया जाये। धार्मिक मान्यताएं और सामाजिक रीतियों पर इन दोनों विधेयकों में से एक का भी प्रभाव नहीं पड़ता। यह काम तो धार्मिक और सामाजिक सुधार को है। सुधारों की गति तेज करने के लिए विधेयकों का पास होना बहुत जरूरी है, पर इससे अस्पृश्यता का अंत नहीं हो सकता। अस्पृश्यता कोई इकरार की चीज नहीं है। 'अस्पृश्य' कहे जाने वाले लोग ख़रीदे या बेचे नहीं जा सकते।"[33] गाँधी यह बताने का प्रयास करते हैं कि भारतीय समाज की व्यवस्था को क़ानूनी रूप से नहीं बदला जा सकता है। हरेक व्यक्ति के परिवर्तन से समाज में परिवर्तन होगा क़ानूनी रूप से यह असंभव है। व्यक्ति के हृदय परिवर्तन के आधार पर ही उसको बदला जा सकता है। यह कानूनी आधार पर बदलने से व्यक्ति के अंदर परिवर्तन नहीं हो सकता है वाह्य रूप से परिवर्तन संभव है लेकिन सामाजिक बुराइयों या अस्पृश्यता को दूर करने के लिए व्यक्ति के हृदय को परिवर्तित करना है। जिससे समाज ठोस रूप में बदल सके। क़ानूनी रूप से तो परिवर्तन डराकर किया जा सकता है उसे जड से ख़त्म नहीं किया जा सकता है।

"मैं वर्णाश्रम को अस्पृश्यता की श्रेणीबद्ध प्रणाली नहीं मानता। वर्ण धर्म से मेरा क्या अभिप्राय है यह मैं बता चुका हूँ। वर्ण धर्म के अर्थ में श्रेणियां समझता ही नहीं। वर्ण धर्म में समाज का विभाजन ऊपर-नीचे के हिसाब से नहीं, समतल अर्थात बराबरी के आधार पर होता है इसलिए अस्पृश्यता पर इशिता का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। वर्णधर्म ही एक ऐसा महान आर्थिक नियम है कि जिसे हम यदि स्वीकार कर ले तो वह हमें उस महानविपत्तियों से बचा लेगा जो संसार के ऊपर आने वाली है। इस कथन के समर्थन में मेरे पास शास्त्रों के पर्याप्त प्रमाण हैं कि ईश्वर की नजर में ब्राह्मण और भंगी बिल्कुल बराबर है।"[34] महात्मा गाँधी वर्णाश्रम व्यवस्था के पक्ष में है। समाज वर्णाश्रम व्यवस्था में विभक्त रहे और ईमानदारी पूर्वक अपना कार्य करें। इस व्यवस्था में ऊंच-नीच आने पर ही बुराई पैदा होती है। वर्णाश्रम व्यवस्था समाज को व्यवस्थित रूप देने का माध्यम है। इस व्यवस्था में सामाजिक शोषण का आधार गलत व्याख्या है और इसे समाज की आर्थिक समृद्धि का पक्षधर मानते है। यह

व्यवस्था आदर्श रूप में गाँधी के विचारधारा में दिखाई देती है लेकिन धरातल पर यह शोषणकारी व्यवस्था का साधन है।

डॉ. भीमराव अंबेडकर

भारतीय समाज व्यवस्था को समझना हो तो डॉ. भीमराव अंबेडकर के विचार बहुत ही मददगार साबित होते हैं। उन्होंने भारतीय समाज व्यवस्था के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सभी पहलुओं पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। डॉ. अंबेडकर ने मानव और समाज के बीच जो संबंध है उसकी व्याख्या एक की है। "जब हम मानव के विषय में बात करते हैं, तो हमारा तात्पर्य मात्र यही नहीं होता है कि कोई व्यक्ति एक व्यष्टि अर्थात समाज ईकाई है। ठीक वैसे ही, जैसे एक अणु, घास का तिनका, एक मक्खी या एक हाथी अलग-अलग इकाइयां हैं, व्यक्ति भी एक इकाई होता है जो अपनी बुद्धि और इच्छा-शक्ति से स्वयं के अस्तित्व को बनाए रखता है। केवल उसका शारीरिक अस्तित्व ही नहीं होता, बल्कि उसके पास ज्ञान और प्रेम जैसे उच्च आध्यात्मिक भाव भी होते हैं जिससे वह कुछ मायनों में स्वयं में एक ब्रह्मांड है। वह एक ऐसा प्राणी है, जिसमें ज्ञान के माध्यम से भी संपूर्णता के साथ ही विशाल ब्रह्मांड को समेटा जा सकता है।"[35] डॉ. अंबेडकर व्यक्ति के विषय में यह कहते हैं कि वह समाज की इकाई है, उसके अंदर जो प्रेम और अपने ज्ञान है उन्हीं के माध्यम से वह व्यक्तियों से जुड़ता है और अपने आप को प्रदर्शित करता है। जिससे वह इस समाज का भाग बन जाता है। डॉ. भीमराव अंबेडकर ने हिंदू समाज व्यवस्था के विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं। "हिंदू समाज व्यवस्था इस सिद्धांत पर आधारित है कि ईश्वर ने मानव को अपने शरीर के भिन्न-भिन्न हिस्सों से पैदा किया है, अतः पाल या पवित्र स्थानों की यात्रा करने वाले पादरियों द्वारा व्यक्त किये गए। विचारों का इसमें कोई स्थान नहीं है। ब्राह्मण, क्षत्रिय ईश्वर की भुजाओं से पैदा हुआ है। क्षत्रिय, वैश्य का भाई नहीं है क्योंकि क्षत्रिय ईश्वर की भुजाओं तथा वैश्य उसकी जांघ से पैदा हुआ है। चूँकि कोई किसी का भाई नहीं है, अतः कोई किसी का रक्षक नहीं है।

इस सिद्धांत ने, कि भिन्न-भिन्न वर्ण ईश्वर के भिन्न-भिन्न अंगों से पैदा हुए हैं, इस विश्वास को पैदा किया है कि यह ईश्वरीय इच्छा है कि वे सभी वर्ण अलग-अलग रहें तथा अपनी अलग-अलग पहचान बनाए रखों। इसी विश्वास ने हिंदुओं में अलग-अलग रहने तथा अपने शेष साथी हिन्दुओं से भिन्न, और विशिष्ट पहचान बनाए रखने की भावना को बल दिया है।"[36] डॉ. अंबेडकर ने भारतीय वर्ण व्यवस्था में उच्चा-निम्न की जो श्रेणियां है उनको समझाने का प्रयास किया है।अगर सभी समान है तो ईश्वर ने सभी को किसी एक ही अंग से क्यों नहीं जन्म दिया है अगर उनको अलग-अलग अंगों से जन्म दिया है तो इसका तात्पर्य यह है कि ईश्वर ने ही यह भेद उत्पन्न किया है और व्यक्ति को यह व्यवस्था बनाये रखने के लिए प्रेरित किया है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में यह कहा जाता है कि समाज में समानता और भाईचारे की भावना बहुत अधिक है। इसी भावना के आधार पर ही यह समाज बना है और टिका हुआ है लेकिन अंबेडकर इस पर अपने विचार रखते हुए कहते हैं कि "यदि हिंदू समाज व्यवस्था समानता तथा भाईचारे पर आधारित नहीं है, तो वह कौन से सिद्धांत पर टिकी हुई है? इस प्रश्न का केवल एक ही उत्तर है। कुछ ही लोग यह समझने में समर्थ होंगे कि वे क्या हैं, लेकिन उनकी प्रकृति और हिंदू समाज पर उनके प्रभाव के बारे में कोई संशय नहीं हैं हिंदू समाज-व्यवस्था का पोषण तीन सिद्धांतों द्वारा होता हैं इनमें सबसे पहला सिद्धांत है, सीढ़ी भेदभाव का व्यवहार। इस चरणबद्ध असमानता का यह सिद्धांत मूल सिद्धांत और विवाद से परे है चारों वर्ण सपाट धरातल पर नहीं रचे गए हैं, जो भिन्न होते हुए भी समान हों। यह सीढीनुमा धरातल वाले है। यह ना केवल भिन्न-भिन्न है, वरन स्थितियों में भी असमान हैं और एक दूसरे के ऊपर टिके हुए हैं मनु की योजनानुसार ब्राह्मण को पहले वर्ण में रखा जाता हैं उसके नीचे का क्षत्रिय वर्ण होता है। क्षत्रिय से निचले वैश्य होता है वैश्य से निचला वर्ण शुद्ध होता है तथा शूद्र से अगला वर्ण जाति सूत्र या अस्पृश्य का होता है। इन वर्णों के बीच अग्रता का यह क्रम मात्र परंपरागत नहीं है या आध्यात्मिक, नैतिक और वैधानिक हैं। जीवन का कोई भी हिस्सा नहीं है, जो वर्गीकृत असमानता के इस सिद्धांत से अछूता है।"[37] डॉ. अंबेडकर सामाजिक व्यवस्था को एक वर्गीकरण के रूप में देखते हैं जिस आधार पर यह

समाज गुना गया है और यह उसी आधार पर पोषण पाता हुआ चल रहा है। वर्ण व्यवस्था को देखें तो एक वर्गीकरण दिखाई देता है और उस वर्गीकरण में प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ चारों वर्ण के स्थान नियत हैं इन्हीं नियत स्थानों के आधार पर समाज में उच्च और निम्न का भेदभाव दिखाई देता है। भारतीय वर्ण व्यवस्था में यह कहा जाता है कि व्यक्ति को अपने वर्ण चुनने का अधिकार नहीं है। उसके पास अपने व्यवसाय को चुनने का भी अधिकार नहीं है। व्यक्ति से सम्बंधित जन्म के आधार पर ही तय कर दिये जाते हैं। जिसका वह सम्पूर्ण जीवन निर्वहन करता है। "हिंदू समाज भाईचारे के खिलाफ हैं इसमें समानता के सिद्धांत को कोई स्थान नहीं है। समानता को मान्यता प्रदान करने के बजाय असमानता को अपने आधिकारिक सिद्धांत बनाती है। स्वतंत्रता के बारे में स्थिति यह है कि व्यवसाय के चयन के बारे में कोई स्वतंत्रता नहीं है प्रत्येक का उसके लिए निर्धारित अपना व्यवसाय है। उसे तो बस वही करते रहना है। जहां तक अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का सवाल है, यह स्वतंत्रता है, लेकिन यह केवल उन्हीं लोगों के लिए जो समाज व्यवस्था के पक्षधर है।"[38] डॉ. अंबेडकर ने भारतीय वर्ण व्यवस्था के स्वरूप को उजागर करने का कार्य किया है। उन्होंने सबसे पहले समानता की बात को खारिज किया कि वर्ण व्यवस्था में समानता नहीं है और व्यवसाय चुनने की स्वतंत्रता भी वर्ण व्यवस्था में नहीं है। इस आधार पर यह कहते हैं कि यह एक जन्म आधारित व्यवस्था है और व्यक्ति के शोषण का जरिया है। जिससे समाज में वर्ण के साथ-साथ जातियों की उद्भव का कारण भी है।

डॉ. भीमराव अंबेडकर गुलाम एवं अस्पृश्यता के बीच के अंतर के विषय में लिखते हैं कि "न तो गुलामी ही स्वतंत्र समाज-व्यवस्था है न ही अस्पृश्यता। परंतु यदि इन दोनों में अंतर किया जाए, और इस बात में कोई संदेश भी नहीं है कि इन दोनों में अंतर है, तो इस अंतर की कसौटी यह होगी कि क्या गुलामी की स्थिति में शिक्षा, नैतिक आदर्श, सुख, संस्कृति और समृद्ध संभव है, या यह अस्पृश्यता की स्थिति में संभव है। अगर इस कसौटी पर इन दोनों स्थितियों को परखा जाए, तब निसंदेह है या पता चलेगा की गुलामी की स्थिति सौ दर्जी अच्छी है। गुलामी में शिक्षा, नैतिक आदर्श, सुख, संस्कृति और समृद्धि की गुंजाइश है। अस्पृश्यता में तो इनमें से किसी की गुंजाइश नहीं है।

अस्पृश्यता में गुलामी जैसी परतंत्र समाज-व्यवस्था के लाभ का कोई संभावना नहीं। इसमें स्वतंत्र व्यवस्था की सारी हानियां विद्यमान है। गुलामी जैसी परतंत्र समाज-व्यवस्था में कुछ लाभ भी हैं, जैसे व्यापार, दस्तकारी या कला का अनुभव, या जैसे कि प्रोफेसर मूरेस ने इसे 'उच्च संस्कृति की दीक्षा का सोपान' कहा था। गुलामी की प्रथा में, विशेषकर जो प्रथा रोमन साम्राज्य में प्रचलित थी, उसमें अस्पृश्यता को समाप्त करने या व्यक्तिगत विकास की बाधाओं की अस्वीकृति का प्रश्न ही नहीं हुआ। इसलिए अभी यह कहना जल्दबाजी होगा की गुलामी की प्रथा अस्पृश्यता से बेहतर है।"[39] भारतीय सामाजिक व्यवस्था में गुलाम या दास की व्यवस्था बहुत ही कम थी यह प्रथा मुख्य रूप पश्चिम के देशों में देखने को मिलती है। जिसमें व्यक्ति को वस्तु की तरह मोल भाव से खरीदा जाता रहा है और वह अपने मालिक के यहाँ कुछ भी करने को बाध्य होता था उसको कोई भी अधिकार नहीं होते थे। लेकिन भारतीय समाज में यह व्यवस्था नहीं है। भारत में वर्ण व्यवस्था आधारित समाज है जिससे निम्न वर्ण के लोगों का शोषण जन्म के आधार से ही शुरू हो जाता है। वह उच्च वर्ण के सामने आ जाने से ही अशुद्ध बोध से ग्रसित हो जाते है तो छू लेना तो पाप के समान है। यह व्यवस्था गुलामों या दासों से भी कष्टकारी रही है।

भारतीय समाज में कुछ विद्वान ऐसे भी हैं जो जाति व्यवस्था को खत्म करना चाहते हैं लेकिन कुछ वर्ण व्यवस्था का समर्थन भी करते हैं। समर्थकों के विषय में अंबेडकर ने कहा है कि "लेकिन सुधारकों का एक वर्ग ऐसा है, जिसका आदर्श कुछ और ही है। ये स्वयं को आर्य समाजी कहते हैं। सामाजिक संगठन का इनका आदर्श चातुर्वर्य, अर्थात पूरे समाज का चार वर्गों में विभाजन है, न कि चार हजार जातियों में, जैसे कि भारत में है। अपने इस सिद्धांत को अधिक आकर्षक बनाने के लिए और विरोधियों को हद प्रस्तुत करने के लिए चातुर्वर्य के यह प्रचारक बहुत सोच समझकर बताते हैं कि उनका चातुर्वर्य जन्म के आधार पर नहीं, बल्कि गुण के आधार पर है। यहां पर पहले ही मैं बता देना चाहता हूं कि चातुर्वर्य गुण के आधार पर हो, किंतु यह आदर्श मेरे विचार से मेल नहीं खाता। पहली बात तो यह है कि अगर आर्यसमाजियों के चातुर्वर्य के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति को उनके अपने

गुण के अनुसार हिंदू समाज में स्थान मिलता हैं, तो मेरी समझ में यह नहीं आता कि आर्यसमाजी लोग सभी लोगों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नाम से पुकारते ही क्यों हैं। यदि किसी विद्वान को ब्राह्मण ना ही कहा जाए, तो भी उसे अगर प्राप्त होगा। यदि कोई सिपाही हो, और क्षत्रिय कहे बिना भी उसका सम्मान होगा।"[40]

डॉ. अंबेडकर भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था के रूप में चली आ रही सामाजिक व्यवस्था का विरोध करते हैं और इस व्यवस्था से बंट रही जातियों एवं उपजातियों का भी विरोध करते हैं। वर्ण व्यवस्था को समाज का हितकर नहीं मानते हैं। इससे समाज में व्यक्ति की समानता का जो भाव है वह बाधित होता है। ऐसा नहीं है कि डॉ. अंबेडकर केवल इस व्यवस्था की कमियां बताते हैं बल्कि वह एक सुझाव भी रखते हैं। जिससे समाज सुचारू रूप से चल सके। "अगर भारत में अलग-अलग जाति और रक्त के समुदायों को अन्तर्विवाह करने की अनुमति दी तो विभिन्न प्रजातियों और परिवारों को एक-दूसरे में समागम से क्या हानि होगी? इसमें संदेह नहीं कि जहां तक आदमियों और जानवरों का संबंध है, उनमें इतना गहरा अंतर है कि विज्ञान इन्हें दो अलग-अलग जीव-रूपों की मान्यता देता है, लेकिन जो वैज्ञानिक प्रजातियों की शुद्धता (मिश्रण हीनता) में विश्वास करते हैं, वे भी दावे के साथ या नहीं कहते हैं कि अलग-अलग प्रजातियों के लोग, अलग-अलग किस्म के होते हैं। वे सभी एक ही नस्ल की अलग-अलग किस्मों के होते हैं। वे एक-दूसरे की उप-जातियों में विवाह करके संतान उत्पन्न कर सकते हैं- ऐसी संताने, जो स्वयं भी आगे संतान उत्पन्न करने में समर्थ होंगे, और बात ना होगी।"[41] डॉ. अंबेडकर भारत में जाति उच्चता और निम्नता को समाप्त करने के लिए वैवाहिक संबंध का विचार रखते हैं जिससे समाज में एकरूपता आएगी और असमानता दूर होंगी। "जाति-व्यवस्था समाप्त करने की एक और कार्य-योजना है कि अंतर्जातीय खान-पान का आयोजन किया जाये। मेरी राय में यह उपाय भी पर्याप्त नहीं है। ऐसी अनेक जातियाँ हैं, जो अंतर्जातीय खान-पान की अनुमति देती हैं। इस विषय में सामान्य अनुभव यह रहा है कि अंतर्जातीय खान-पान की व्यवस्था जाति-भावना या जाति-बोध को समाप्त करने में सफल नहीं हो पाई है। मुझे पूरा विश्वास है कि इसका वास्तविक उपचार

अंतर्जातीय विवाह ही है। केवल खून के मिलने ही रिश्ते की भावना पैदा होगी और जब तक सजातीयता की भावना को सर्वोच्च स्थान नहीं दिया जाता, तब तक जाति-व्यवस्था द्वारा उत्पन्न की गई पृथकता की भावना, अर्थात पराएपन की भावना समाप्त नहीं होगी। हिंदुओं में अंतर्जातीय विवाह सामाजिक जीवन में महान शक्ति का एक कारण सिद्ध होगा। गैर-हिंदुओं में इसकी इतनी आवश्यकता नहीं है। जहां समाज संबंधों के ताने-बाने से सुगठित होगा, वहां विवाह जीवन की एक साधारण घटना होगी लेकिन जहां समाज छिन्न-भिन्न है वहां बाध्यकारी शक्ति के रूप में विवाह की परम आवश्यकता होती है। अत: जाति-व्यवस्था को समाप्त करने का वास्तविक उपाय अंतर्जातीय विवाह ही है।"[42]

डॉ. अंबेडकर अंतर्जातीय खानपान की भी बात करते हैं लेकिन वह उससे जाति व्यवस्था के उन्मूलन का मुख्य हथियार या मुख्य कारण नहीं मानते हैं क्योंकि खानपान करने से जातीय दंभ तो बना रहेगा। लेकिन अगर हम अंतर्जातीय विवाह शुरू करते हैं तो इससे जातीय संरचना टूटेगी और एक दूसरे व्यक्ति का सम्मान करेंगे और हीनता बोध खत्म होगा। "जाति व्यवस्था उसी स्थिति में समाप्त होगी। जब रोटी-बेटी का संबंध सामान्य व्यवहार में आ जाए। आपने बीमारी की जड़ का पता लगा लिया है। लेकिन क्या बीमारी के लिए उसका नुसखा ठीक है? यह प्रश्न अपने आप से पूछिए। अधिसंख्य हिंदू रोटी-बेटी का संबंध क्यों नहीं करते। आपका उद्देश्य लोकप्रिय क्यों नहीं है? उनका केवल एक ही उत्तर है और वह है कि रोटी-बेटी का संबंध उन आस्थाओं और धार्मिक-सिद्धांतों के प्रतिकूल है जिन्हें हिंदू पवित्र मानते हैं। जाति ईंटों की दीवारया कांटेदार तारों की लाइन जैसी कोई भौतिक वस्तु नहीं है, जो हिंदुओं को मेल-मिलाप से रोकती हो और जिसे तोड़ना आवश्यक हो। जाति तो एक धारणा है और यह एक मानसिक स्थिति है। अतः जाति व्यवस्था को नष्ट करने का अर्थ भौतिक रुकावटों को दूर करना नहीं है।"[43]

डॉ. भीमराव अंबेडकर भारतीय समाज व्यवस्था में वर्ण व्यवस्था एवं जाति व्यवस्था से व्यक्तियों की सोच और उस व्यवस्था में बने रहने से समाज में आ रही अवरोधों की बात करते हैं।

जिससे हमारा समाज स्वस्थ नहीं हो सकता है डॉ. अंबेडकर इन कमियों को जानते हैं और इन कमियों को दूर करने की भी बात करते हैं कि जब तक समाज में रोटी और बेटी का संबंध स्थापित नहीं होगा। तब तक समाज एक बेहतर स्थिति में नहीं पहुँच सकता है। और समाज से अस्पृश्यता एवं असमानता समाप्त नहीं हो सकती है। यह व्यवस्था हिंदू धर्म सिद्धांतों पर आधारित है इसलिए इस व्यवस्था के मूल में उच्चता निम्नता संबंधी विचार है।जिससे समाज में वर्ण एवं जाति के आधार पर विभाजन भी है। इस विभाजन को दूर करने का एकमात्र कारण है सबको एक ही स्थान या मंच पर एकत्रित होना और इस एकत्रित करने की एक ही खड़ी है वह है रोटी और बेटी का संबंध। जब तक पारिवारिक रिश्ते स्थापित नहीं होगें लोगों के मन के भाव में कोई परिवर्तन नहीं आयेगा। यह व्यवस्था किसी न किसी रूप में सामने आती रहेगी जिससे समाज में शोषण व्याप्त रहेगा।

डॉ. राम मनोहर लोहिया

डॉ. राम मनोहर लोहिया भारत की सामाजिक राजनीतिक आर्थिक दृष्टि को समाजवादी ढंग से देखते थे। भारत में 1935 के बाद से कांग्रेस से ही अलग एक संगठन बना जिसका नाम कांग्रेस समाजवादी दल रखा गया। जिसमें जयप्रकाश नारायण, डॉ. राम मनोहर लोहिया, आचार्य नरेंद्र देव आदि सक्रिय सदस्य थे। जब इस संगठन का गठन हुआ तो इसका मूल उद्देश्य भारत की स्वतंत्रता एवं समाजवाद को स्थापित करना था। आधुनिक युग में दुनिया के हर एक देश में समाजवाद किसी न किसी रूप में व्यक्त हो रहा था उसी का प्रभाव भारत में भी देखने को मिलता है। "आचार्य नरेंद्र देव ने समाजवाद के ध्येय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि समाजवाद संसार को आजाद करना चाहता है, व्यक्तित्व के विकास में रुकावट डालने वाले सामाजिक बंधन से उसे छुटकारा दिलाना चाहता है। शोषण मुक्त समाज की रचना करके मौजूदा समाज का प्रचलित दासता, विषमता और असहिष्णुता को सदा के लिए दूर करके, समाजवाद, स्वतंत्रता समता और मातृत्व की वास्तविक स्थापना करना

चाहता है।"[44] समाजवाद का मूल उद्देश्य सामाजिक समानता और स्वतंत्रता ही है। डॉ. राम मनोहर लोहिया समाजवाद के अंतर्गत समानता के साथ का संपन्नता की भी चर्चा की है। उनके अनुसार समानता तभी संभव है जब देश की संपत्ति का बंटवारा व्यक्ति की आवश्यकता अनुसार कर दिया जाये और सभी संपत्ति पर राष्ट्र का अधिकार जिससे समाज में समानता आयेगी और संपन्नता के लिए उन्होंने कहा कि अपने उत्पादकों में प्रत्येक वर्ष वृद्धि करना है जिससे संपन्नता आ सके तभी बेहतर समाजवादी समाज बना सकते हैं।

डॉ. राम मनोहर लोहिया ने भारत की उन्नति में सबसे बड़ा बाधक जाति समस्या को माना है। "किसी भी हिसाब से हिंदुस्तान की आबादी में ऊंची जाति वाले 20 प्रतिशत से ज्यादा नहीं किंतु देश में नेतागिरी की लगभग 80 प्रतिशत जगहों की हम जब बात करते हैं तो हमारा मतलब विधायकाओं के सदस्यों से नहीं है, बल्कि उनका चयन करने वाली कार्य-समितियों से है। जब किसी राष्ट्र के मर्मस्थल के 80 प्रतिशत नेतृत्व को उसकी आबादी के 20 प्रतिशत में से ही चुना जायेगा, तो निश्चय ही क्षय-रोग की अवस्था जायेगी। उनकी 80 प्रतिशत आबादी अकर्मण्यता और अयोग्यता की अवस्था में पड़ जाती है। हमारा देश बीमार है और मौत के मुँह में बैठा है। ऐसे राज्य को तंदुरुस्त बनाने के लिए नेतृत्व का पूर्वनियोजित चयन करना होगा।"[45] लोहिया के अनुसार जब तक समाज के सभी वर्गों की भागीदारी सुनिश्चित नहीं हो जायेगी। तब तक समाज बेहतर नहीं हो सकता क्योंकि किसी भी अच्छी अवस्था को प्राप्त करने के लिए सभी की भागीदारी निश्चित होनी चाहिए अगर ऐसा नहीं है तो पीछे रह जायेंगे। "जाति में इतनी जकड़न होती है कि एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति में प्रवेश के लिए असमर्थ बना दिया जाता है। इस जाति पाश के कारण भारत का समग्र जीवन निष्प्राण हो गया है। भारत का व्यक्ति हिंदू, मुसलमान, सिख और ईसाई के नाम पर विभाजित है। हिंदू ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जातियों में विभाजित तो है ही, साथ-साथ इन जातियों में भी उप जातियाँ हैं। ये समस्त उप जातियाँ यहाँ तक विभाजित है कि वे एक दूसरे के साथ शादी विवाह, खान-पान अथवा अन्य सम्बन्ध करना अपना अपमान समझती हैं।"[46] डॉ. राम मनोहर लोहिया का पूरा चिंतन जाति समस्या को लेकर ही केंद्रित

रहा है। उन्होंने भारत के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक पहलुओं को समझने के लिए जातीय उन्मूलन की बात की। वह भारतीय समाज से जाति को खत्म करने की बात करते हैं और समानता लाने की पहल करते हैं। वह भारत के ऊंची जातियों के षड्यंत्र एवं प्रगतिशील पार्टी के विचारों का भी खुलकर विरोध करते हैं। हिंदुस्तान की राजनीतिक पार्टियों के विषय में वे कहते हैं कि "वे चाहते है कि छोटी जातियों में से खास योग्यता वाली औरतें और मर्द ही उनके साथ आएँ। किन्तु वे यह भी चाहते है कि पूरा ढांचा जैसा का तैसा बना रहे। वे ज्यादातर ऊंची जातियों में से आये है। परम्परा योग्यता और आचार-विचार पर आधारित उनके सामाजिक समूह को जब तक आंच ना आए, वे अपनी जाति अथवा ऊंची और नीची जाति में भेद-भाव को निंदा करने में हिचकिचाते नहीं। छोटी जातियों में से अगर कोई योग्यता और तौर-तरीकों में सिद्ध है तो उसका स्वागत होता है। पर कितने लोग सिद्ध होगे। बहुत कम। एक व्यक्ति की प्रतिभा के विरुद्ध होगा, पांच हजार बरसों का जालिम प्रशिक्षण और परंपरा। इस कुश्ती में सिर्फ बहुत ही तेजस्वी और बहुत ही योग्य ही व्यक्ति जीत सकता है।"[47] डॉ. राम मनोहर लोहिया हिंदुस्तान की पार्टियों के विषय में यह कहते हैं कि प्रत्येक पार्टियां छोटी जातियों के प्रतिनिधित्व के लिए किसी न किसी एक व्यक्ति को अपने साथ रखती हैं। जिससे उस जातीय के मन में यह भाव बना रहे कि वह भी उस पद को प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन उस मकड़जाल को पार करके वहाँ तक पहुँचना बहुत ही कठिन काम है इसे बहुत ही योग्य व्यक्ति पार करता है। जिसे वह अपनी पार्टी में मिला लेते हैं और अन्य लोगों के समूह को वैसा का वैसा ही छोड़ देते हैं लोहिया भारत की ऊंची जातियों के षड्यंत्रकारी टीम ही बात करते हैं। "कुछ खास शूद्र समूहों के नेतृत्व में जाति के विरुद्ध दूसरे थे आंदोलन से बराबर मेल खाता है। शूद्रों के अंदर कुछ जातियां तादाद में शक्तिशाली है और कुछ इलाकों में तो बहुत ही ज्यादा शक्तिशाली है। बालिग मताधिकार के युग ने उनके हाथ में शक्ति सौप दी है। दक्षिणा के मुदलियार और रेड्डियों ने और पश्चिम हिंदुस्तान के मराठों ने उसका इस्तेमाल किया है। वे ही, न कि द्विज, अपने इलाकों के राजनीतिक मालिक हैं, हालांकि वहाँ भी ऊंची जातियों ने अपनी आर्थिक पकड़ को मजबूत बना लिया है और फिर से राजनीतिक क्षेत्र में आने का

बहुत ही चालाक और धोखे का प्रयास कर रहे हैं। यह संभव है, मुख्य रूप से इसलिए कि जाति के विरुद्ध आंदोलन हैं। समाज को ज्यादा न्यायसंगत, चलायमान और क्रियाशील बनाने के अर्थ में वे समाज को नहीं बदलते। वे सभी नीची जातियों को अधिकार नहीं देते, बल्कि सिर्फ उनको जो उनके बीच अकेले सबसे बड़ी हो। इसलिए वे जाति का नाश नहीं करते, बल्कि सिर्फ पद और अवसर में हेर-फेर करते हैं।"[48] लोहिया ने भारतीय समाज की अस्पृश्यता की तुलना अमेरिका और इंग्लैंड के व्यक्तियों के साथ की है जिस तरीके का बर्ताव यह देश भारत की जनता के साथ करती हैं वैसा ही बर्ताव ऊंची जातियां यहाँ की निम्न जातियों के साथ करती हैं।

डॉ. राम मनोहर लोहिया ने भारत की इस समस्या का समाधान बताते हैं कि किसी भी समस्या का समाधान किये बगैर किसी भी सिद्धांत का पालन नहीं किया जा सकता है, नहीं तो वह असफल ही सिद्ध होता है। ऐसे में डॉ. राम मनोहर लोहिया जाति प्रथा को समाप्त करने के लिए कहते हैं। "जीवन के बड़े तथ्य जैसे जन्म, मृत्यु, शादी-ब्याह भोज और अन्य सभी रस्मे जाति के चौखट में ही होती है। उसी जाति के लोग उन निर्णायक कामों में दूसरे की मदद करते हैं। ऐसे मौकों पर दूसरी जातियों के लोग किनारे पर रहते है। अलग और जैसे ही तमाशबीन हो। शुरू से ही एक आम गलती से छुटकारा पा लेना चाहिये। इधर के दशकों में देश के कई हिस्सों में कुछ अंतरजातीय काम हो हुए है। अव्वल तो, इस तरह के काम भोज की छोटी रस्म की हद तक ही सीमित रहे और शादी-ब्याह और बच्चे होने के बड़े काम नहीं हुए। दूसरे, यह काम सिर्फ सतही तौर पर और भ्रान्तिजनक रूप से अंतरजातीय है। कभी-कभी ऊँची जातियों के विभिन्न समुदाय के बीच अंतरजातीय विवाह और भोज हो जाया करते है। सचमुच के सामूहिक काम के क्षेत्र में, ऊँची जाति और छोटी जाति के बीच, अगर और ज्यादा नहीं, तो कम से कम हमेशा जैसा बड़ा भेद बना हुआ है। जब लोग अंतरजातीय विवाह इत्यादि की बात करते है, तो उसका मतलब ऊँची जाति के समुदाय के बीच विवाह से ही होता है।"[49]

डॉ. राम मनोहर लोहिया जातिप्रथा समाप्त करने के लिए डॉ. अंबेडकर के कथनों के करीब दिखाई देते हैं या कहे तो उन्हीं का समर्थन करते हैं। जब तक जीवन के समस्त कार्यों में सभी की

भागीदारी सुनिश्चित नहीं होगी एवं शादी विवाह जैसे कार्यक्रमों में सभी लोग जातियों से ऊपर उठकर अंतरजातीय विवाह करेगें। तब तक एक समाजवादी समाज का निर्माण नहीं किया जा सकता है। डॉ. राम मनोहर लोहिया तो डॉ. अंबेडकर से भी आगे की बात करते हैं और अंतरजातीय के साथ-साथ अंतरराष्ट्रीय विवाह की बात करते हैं। जिससे हमारे अन्य देशों से संबंध बेहतर हो सके जिन देशों से दोयम दर्जे के समझे जाते हैं। डॉ. लोहिया यह कहते हैं कि जब तक जाति खत्म नहीं होगी तब तक समाज के विकास की बात बेमानी है वह भारतीय युवाओं से कहते हैं। "ऊँची जाति के युवजन को अब अपनी पूरी ताकत से उठना चाहिए। इस नीति में अपने स्वार्थों पर हमला देखने के बजाय, उसमें जनता को नवजीवन देने की क्षमता के रूप में देखना चाहिए। आखिरी ऊँची और नीची जातियों के बहुत ही कम विवाह-संबंधों में, द्विज और हरिजन के बीच वाले विवाह तो देखे जा सकते है पर शूद्र और हरिजन के बीच नही। ऊँची जाति के युवजन को छोटी जातियों के लिए खाद बन जाने का निश्चय करना चाहिए ताकि एक बार तो जनता अपनी पूरी तेजस्विता में पल्लवित-पुष्पित हो। अगर मानव-स्वभाव अपरि मित त्याग के लिए तत्पर रहता है, तो ऊँची जातियाँ सलाहकार बनेगी और कार्यकारिणी होगी सभी नीची जातियाँ। अगर हर एक जगह संभव नहीं है, तो जितनी भी जगहों पर यह संभव हो सके हो।"[50]

डॉ. लोहिया मूल रूप से समाजवाद की स्थापना करने के लिए जाने जाते हैं भारतीय समाज को देखें तो बहुत ही ज्यादा विषमता दिखाई देती है। डॉ. लोहिया भारतीय सामाजिक व्यवस्था को समझते हैं और उसकी उन्नति में अवरोधक तत्व की चर्चा करते हैं और उन्हें दूर करने के प्रयास भी बताते हैं इस प्रकार वह भारतीय समाज में समानता और संपन्नता की ओर अपने विचारों से अग्रसर होते हुए दिखाई देते हैं। आधुनिक समय में जिस तरीके के विचार डॉ. राम मनोहर लोहिया के हैं, वह भारतीय समाज के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा। जिससे समाज में समानता, स्वतंत्रता, भाईचारे की भावना उत्पन्न होगी, समाज उन्नत करेगा। मार्क्सवादी पार्टियाँ भारतीय समाज की संरचना को नहीं समझती वह आर्थिक आधार पर या वर्ग विहीन समाज के आधार पर बात करती लेकिन डॉ. राम

मनोहर लोहिया अपने समाजवाद में भारतीय समाज की परिस्थिति और उसकी मूल समस्या को समझते हैं उसकी दूर करने के सुझाव भी प्रस्तुत करते हैं।

सन्दर्भ सूची:

1. वर्मा, वेद प्रकाश; नीति शास्त्र के मूल सिद्धांत; एलाइड पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद; संस्करण 2009; पृष्ठ 312
2. दामोदरन, के.; भारतीय चिंतन परंपरा; पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण नवीन; पृष्ठ 11
3. ठाकुर, हरिनारायण; दलित साहित्य का समाजशास्त्र; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; संस्करण 2010; पृष्ठ 46
4. वही, पृष्ठ 29
5. दामोदरन, के.; भारतीय चिंतन परंपरा; पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण नवीन; पृष्ठ 75
6. सिंह, डॉ.. एन; दलित साहित्य के प्रतिमान; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2012; पृष्ठ 63
7. मेघवाल, कुसुम; हिंदी उपन्यासों में दलित वर्ग; सम्यक प्रकाशन, दिल्ली; संस्करण 2011; पृष्ठ 23
8. सिंह, डॉ.. एन; दलित साहित्य के प्रतिमान; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2012; पृष्ठ 63-64
9. कृष्ण, प्रणय; उत्तर औपनिवेशिक के श्रोत और हिंदी साहित्य; हिंदी परिषद प्रकाशन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद; संस्करण 2008; पृष्ठ 314
10. बॉटमोर, टी. बी.; समाजशास्त्र; अनुवादक गोपाल प्रधान; ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली; संस्करण 2012; पृष्ठ 45-46
11. विद्याभूषण, डी. आर. सचदेवा; समाजशास्त्र के सिद्धांत; किताब महल, इलाहाबाद; संस्करण 1982; पृष्ठ 35
12. वही, पृष्ठ 37
13. वही, पृष्ठ 37
14. वही, पृष्ठ 38
15. बॉटमोर, टी. बी.; समाजशास्त्र; अनुवादक गोपाल प्रधान; ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली; संस्करण 2012; पृष्ठ 51
16. वही, पृष्ठ 52
17. विद्याभूषण; डी. आर. सचदेवा; समाजशास्त्र के सिद्धांत; किताब महल, इलाहाबाद; संस्करण 1982; पृष्ठ 46
18. बॉटमोर, टी. बी.; समाजशास्त्र; अनुवादक गोपाल प्रधान; ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली; संस्करण 2012; पृष्ठ 54
19. विद्याभूषण; डी. आर. सचदेवा; समाजशास्त्र के सिद्धांत; किताब महल, इलाहाबाद; संस्करण 1982; पृष्ठ 39
20. वही, पृष्ठ 40-41
21. वही, पृष्ठ 41
22. वही, पृष्ठ 45
23. बॉटमोर, टी. बी.; समाजशास्त्र; अनुवादक गोपाल प्रधान; ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली;

संस्करण 2012; पृष्ठ 56

24. वही, पृष्ठ 58
25. वही, पृष्ठ 58
26. कालेकर, काका; गाँधीवाद : समाजवाद; सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली; संस्करण 2000; पृष्ठ दो शब्द
27. वही, पृष्ठ 3-4
28. वही, पृष्ठ 11-12
29. वही, पृष्ठ 109-110
30. वही, पृष्ठ 111
31. वही, पृष्ठ 185
32. संपूर्ण गाँधी वांग्मय; भाग 29, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार; संस्करण 1969; नई दिल्ली; पृष्ठ 274
33. वही, भाग 56, पृष्ठ 94
34. वही, भाग 56, पृष्ठ 360
35. डॉ. अंबेडकर, बी. आर.; हिंदुत्व का दर्शन, बाबासाहेब डॉ.. अंबेडकर; संपूर्ण वांग्मय, खंड 6; डॉ.. अंबेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली; संस्करण 2011; पृष्ठ 123-124
36. वही, पृष्ठ 129
37. वही, पृष्ठ 136
38. वही, पृष्ठ 144
39. डॉ. अंबेडकर, बी. आर.; अस्पृश्यता अथवा भारत में बहिष्कृत बस्तियों के प्राणी; बाबासाहेब डॉ..अंबेडकर. संपूर्ण वांग्मय, खंड 9; डॉ.. अंबेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली; संस्करण 2011; पृष्ठ 35
40. डॉ. अंबेडकर, बी. आर.; भारत में जातिप्रथा एवं जातिप्रथा-उन्मूलन भाषायी प्रांतों पर विचार रानाडे, गाँधी और जिन्ना; बाबासाहेब डॉ.. अंबेडकर. संपूर्ण वांग्मय, खंड 1; डॉ.. अंबेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली; संस्करण 2011; पृष्ठ 80
41. वही, पृष्ठ 68
42. वही, पृष्ठ 90
43. वही, पृष्ठ 91
44. डॉ. दीक्षित, ताराचन्द; डॉ. लोहिया का समाजवादी दर्शन; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; संस्करण 1976; पृष्ठ 24
45. सं. शरद, ओंकार; लोहिया के विचार; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; संस्करण 1969; पृष्ठ 131
46. डॉ. दीक्षित, ताराचन्द; डॉ. लोहिया का समाजवादी दर्शन; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; संस्करण 1997;. पृष्ठ 44.

47. सं. शरद, ओंकार; लोहिया के विचार; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; संस्करण 1969; पृष्ठ 129
48. वही, पृष्ठ 133
49. वही, पृष्ठ 113-114
50. वही, पृष्ठ 137